आगम और तंत्र

डॉ. ब्रजबिहारी निगम

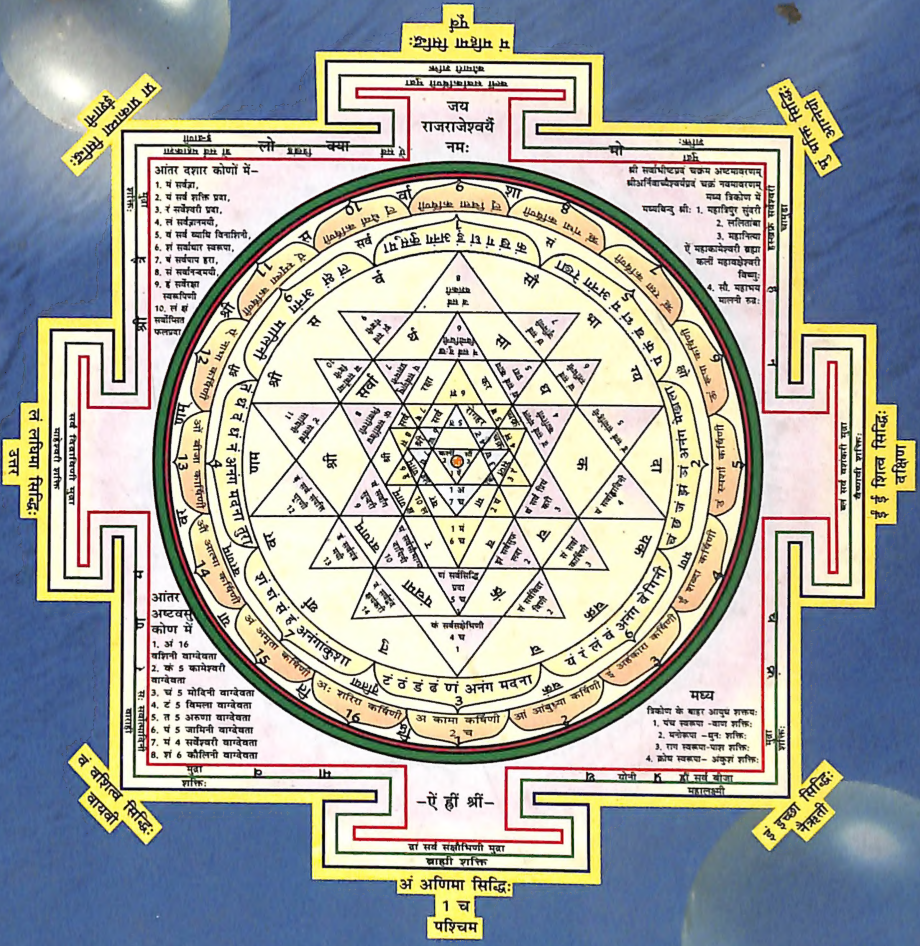

समझ में आये और व्यवहार में लाया जा सके, भ्रान्तियाँ दूर हों

अब तक छपे ग्रन्थों में प्रामाणिक एवं आश्चर्यजनक तथ्यों (Facts) से परिपूर्ण

आगम और तन्त्र

लेखक :
डॉ. ब्रजबिहारी निगम

R. L. BHAT
★ .... ★
9/10/04
Personal Collection

रंजन पब्लिकेशन्स
16, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110 002

प्रकाशक :
रंजन पब्लिकेशन्स
16, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
फोन : 23 27 88 35
email : ranjanpublications@rediffmail.com

© प्रकाशक

ISBN : 81-88230-36-7

प्रथम संस्करण : 2004

मूल्य : *100/-*

मुद्रक : नागरी प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

पुस्तक के सम्बन्ध में

प्रस्तुत ग्रंथ में तन्त्र शास्त्र का परिचय मात्र है। साधना में आवश्यक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वाममार्गी साधना के पञ्चमकार और चक्रसाधना व दक्षिणाचार साधना की विद्या को भी परिचयात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। यथास्थान इतिहास, दर्शन व धर्म से तान्त्रिक साधना का निर्वचन किया गया है। सिद्धियों पर कुछ लिखने का मोह छोड़ा है, क्योंकि यह गुरुमुख से ही शोभा देता है, तथा वही किसी कार्य के लिये उपयुक्त साधना का आदेश दे सकता है।

आशा है यह छोटा सा ग्रंथ पाठकों को तान्त्रिक जगत् से भली प्रकार परिचित करवाने में समर्थ होगा।

ब्रजबिहारी निगम
(लेखक)

भूमिका

अणु से विभु। पिंड से ब्रह्मांड या जीव से ब्रह्म का संबंध स्थापित करने या तत्सदृश हो जाने में जो विद्या सहायक है उसी को तन्त्रशास्त्र कहते हैं। मनुष्य अपनी मर्यादित क्षमताओं से संतुष्ट नहीं होता, वह नित्य प्रति सीमा से उठकर निस्सीम की प्राप्ति का अभिलाषी रहता है। मनुष्य की इस जिजीविषा को संपन्न करने में तन्त्रशास्त्र की विविध विधियां सहायक हो सकती हैं, बशर्ते कि सुयोग्य गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त हो। तन्त्र में गुरु की अनिवार्यता का यही अर्थ है। उसके बताये मार्ग से यदि जीवात्मा-परमात्मा का मिलन संभव है तो तान्त्रिक गुरु के निर्देशन में की गई साधना से भौतिक जगत् की कोई सी भी वस्तु प्राप्त हो सकती है। इस तरह तन्त्र में स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों सध जाते हैं।

तांत्रिक साधना से सिद्धियां स्वत: प्राप्त की जा सकती हैं और गुरु कृपा से 'शक्तिपात' भी संभव है। आर्त, अशक्त और रुग्ण व्यक्तियों के रोगहरण के लिये किसी सिद्ध का आशीर्वाद ही फल प्राप्ति करवा देता है। किसी धर्म या तन्त्र की साधना में पर-कल्याण भाव आवश्यक है। शुभेच्छा से किया गया जप-तप मनोवांछित फल प्रदान करता है। आधुनिक विज्ञान और तकनालॉजी का सदुपयोग छात्रों की शिक्षा, किसानों की खेती और अस्पतालों में चिकित्सा के लिये किया जाता है। लेकिन उसी विज्ञान की सहायता से हिरोशिमा और नागासाकी पर मानव-विनाशकारी अणुबम भी डाले गये थे। उसी तरह तन्त्रशास्त्र में भी चूंकि यह व्यावहारिक शास्त्र है, इसका मानव-कल्याण में प्रयोग होता है तो दूसरी ओर अभिचार की क्रियाओं से मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन वशीकरण

और विद्वेषण भी होता है। पञ्चमकार और चक्र-साधना में मांस, मदिरा और मैथुन के इंद्रिय लोलुप विषयी लोग भी साधक बनने का स्वांग करते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव-कल्याणकारी साधनाओं को मानव विनाशकारी मार्ग पर लगा दिया जाता है। महत्वपूर्ण है गुरु का स्थान और साधक की पहचान।

वेदों के काल से ही कई तान्त्रिक क्रियाएं चल रही हैं; लेकिन मध्य युग में तन्त्रशास्त्र का भारतीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान हो गया। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त और वैष्णवों में तान्त्रिक साधनाओं का खूब प्रचार हुआ। तन्त्रशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान हो गया था जोकि प्रत्येक जिज्ञासु व साधक की पहुंच में था। शंकराचार्य सरीखे घोर अद्वैतवादी ने न केवल तन्त्र को अपनाया, वरन् उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों में तान्त्रिक साधना को अनिवार्य बनाया। वे स्वतः श्री विद्या और श्री चक्र के साधक थे। हमें यह ध्यान रखना होगा कि तान्त्रिक साधनाओं के साथ ही रसायन विद्या, आयुर्वेद, ज्योतिष और योग शास्त्र का भी अभूतपूर्व विकास हुआ था। तन्त्रशास्त्र एक सुथरा व्यावहारिक शास्त्र है जिसमें दार्शनिक जिज्ञासाओं की तृप्ति के साथ प्रत्येक प्रकार की सांसारिक आशाओं-अभिलाषाओं को पूर्ण करने तथा रोगहरण के लिये कोई न कोई साधन उपलब्ध है। तन्त्र में विशेषकर मंत्र, यन्त्र, मण्डल, न्यास व महाविद्याओं का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक कार्य के लिये अलग अलग मंत्र, यन्त्र या महाविद्या का निर्णय गुरु के द्वारा किया जाता है। कोई भी ऐसी सांसारिक समस्या नहीं है जिसके लिये कोई फलदायी मंत्र या तंत्र उपलब्ध न हो। युद्ध में दुश्मन की फौजों में मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के प्रयोग किये जाते थे। आज भी बहुत कम राजनीतिज्ञ ऐसे होंगे जिनका कोई न कोई तान्त्रिक गुरु न हो और जो अपनी इष्टपूर्ति के लिये तान्त्रिक साधना न करवाता हो। हजारों नर-नारी आज भी अपने रोग निवारण के लिये तान्त्रिक साधकों के मठ-मंदिर में जाते हैं। तात्पर्य यह है कि सभ्यता व विज्ञान की इतनी तरक्की हो जाने के बाद भी 21वीं सदी के भारतीय-गरीब और अमीर-तान्त्रिक की शरण में जाते हैं। आज भी तन्त्र सर्वाधिक जीवित शास्त्र है।

इसका महत्व आंकने के लिये पंड़ित गोपीनाथ कविराज के द्वारा लिखित 800 पृष्ठों का वृहद् ग्रंथ 'तान्त्रिक साहित्य' देखना चाहिये। इसमें केवल हिन्दू तन्त्रों के ग्रंथ ही संकलित किये गये हैं। बौद्ध एवं जैन धर्मों के अलग ही तन्त्र-शास्त्र हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक धर्म के साथ तन्त्र लगा रहता है। क्योंकि धर्म के द्वारा उपदिष्ट सात्विक सत्य को प्राप्त करने का साधन तान्त्रिक साधना ही रहती है। भारतीय इतिहास की दीर्घावधि में सभी प्रकार की स्थितियों में जाति-पांति के भेद-भाव से ऊपर उठाकर हिन्दू धर्म के अनुयायियों को एक सूत्र में बांधे रखने का सबसे बड़ा श्रेय तन्त्र-शास्त्र को ही जाता है।

विषय सूची

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
	पुस्तक के सम्बन्ध में	3
	भूमिका	4
1.	आगम और तन्त्र	9
2.	तन्त्र एक आलोचनात्मक अध्ययन	21
3.	तान्त्रिक साधना के तत्व	34
4.	यन्त्र, मण्डल और चक्र का महत्व	48
5.	पञ्चमकार	57
6.	चक्र साधना	91
7.	दस महाविद्याओं का उद्‌भव	104
8.	महाविद्या	130
9.	बगलामुखी	134
10.	श्री विद्या	139
	(श्री चक्र के दो रेखा चित्र)	141-143
11.	श्रीविद्या क्रमशः	144-180

1

आगम और तन्त्र

भारतीय चिंतन में "आगम" और "निगम" का महत्वपूर्ण स्थान है। जो शास्त्र अपौरुषेय हैं वे निगम कहलाते हैं, जैसे वेद, और जो किसी आप्त पुरुष, ईश्वर, ऋषि या देवता के द्वारा कहे गये हैं वे आगम कहे जाते हैं। मोटे रूप से आगम को वैदिक और अवैदिक दो भागों में बांटा जाता है। बौद्ध एवं जैन शास्त्र अवैदिक हैं। बौद्ध आगम के वक्ता भगवान बुद्ध हैं तथा जैन आगम के तीर्थंकर। शैव, शाक्त एवं वैष्णव आगम वैदिक कहे जाते हैं, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इन धर्मों की मूल प्रेरणा वेदों से ग्रहण की गई है। शैव व शाक्त शास्त्रों के वक्ता शिव एवं श्रोता पार्वती हैं, वैष्णव पाञ्चरात्र संहिताओं के वक्ता वासुदेव कृष्ण या अन्य कोई विष्णु-अवतार हैं।

शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत को वैदिक शास्त्रों के अंतर्गत रखना कहाँ तक उचित है? यह चर्चा का विषय हो सकता है, क्योंकि इन मतों के कई ग्रंथ-कर्ताओं ने वैदिक प्रस्थान को अस्वीकार किया है। इसी के साथ जिन रूपों में इन धर्मों व साधनाओं का विकास हुआ है, वे वैदिक चिंतन से मेल नहीं खाते। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र-II-2-45, "विप्रतिषेधाच्च" पर भाष्य करते हुए पाञ्चरात्र संहिताओं के संबंध में स्पष्ट कहते हैं कि ये वेदों का विरोध करते हैं। वेदविप्रतिषेधाच्च भवति। इनका मत है कि शाण्डिल्य जब चारों वेदों के अध्ययन से परमानंद प्राप्त नहीं कर सके तब उन्होंने "पाञ्चरात्र" ज्ञान की स्थापना की। इसी तारतम्य में शंकर एक सांस में शैव व शाक्त आगमों को भी वैदिक सिद्ध कर देते हैं। शंकर के विचारों का असर आने वाली कई शताब्दियों तक ग्रंथकारों पर पड़ता रहा,

और अनेक लेखक अपने-अपने धर्मों को वैदिक परंपरा में रखने के लिये भाष्य लिख रहे थे, जैसे रामानुज, मध्व तथा अनेक शाक्त ग्रंथ जैसे मार्कण्डेय पुराण, शैव ग्रंथ पाशुपत सूत्र, तन्त्र ग्रंथ महानिवर्ण तंत्र, कुलार्णव तन्त्र आदि। महर्षि हारीत यह कहते हैं कि आगम पंचम वेद हैं—आगमः पञ्चमो वेदः। 13वीं सदी के ग्रंथ परशुराम कल्पसूत्र में वेदों को भी आगम की तरह पौरुषेय कहकर सब विवाद ही समाप्त कर दिया।

इस विचारणीय एवं विवादग्रस्त विषय को यहीं स्थगित कर हम "आगम" की व्याख्या की ओर बढ़ते हैं:

आगम का अर्थ

आगम का व्यापक अर्थ है आना, पहुँचना या अव्यक्त का व्यक्त होना।[1] व्युत्पत्ति के अनुसार आ = आगत, आया हुआ, गत = जो जाता है, जैसे शंकर से आया हुआ पार्वती के पास जाता है। शैव, शाक्त और तन्त्रों में शिव वक्ता रहते हैं और पार्वती श्रोता। आगम इसलिये कहते हैं कि इससे ज्ञान आता है; शास्त्र इसलिये कि सब कुछ इससे नियंत्रित होता है; ज्ञान इसलिये कि यह सब कुछ जानने का साधन है। इसी को तंत्र इसलिये कहते हैं कि सभी का संरक्षण और नैरंतर्य इसी से प्राप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने तत्ववैशारदी में आगम की व्याख्या इस तरह की है: **आगच्छन्ति बुद्धि आरोहन्ति यस्माद् अभ्युदय निःश्रेयसोपायाः स आगमः।** संक्षिप्त में आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं।

आगम को योग दर्शन में एक प्रमाण माना है (प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि, I-7)। यहाँ आगम का अर्थ आप्त पुरुषों या शास्त्रों के कथन के मूल अर्थ से योग में भिन्न अर्थ नहीं है। एक सफल योगी ही आप्त पुरुष है जोकि साधक योगी का मार्गदर्शक होता है। आगम साधन/ एवं क्रिया प्रधान है। साधना का उद्देश्य धर्म-कर्म तथा इसी जीवन में सिद्धि की प्राप्ति है। इनमें स्वर्ग-नरक, मोक्ष, निर्वाण, शून्यता, बुद्धत्व आदि की चर्चा होती है, लेकिन ये सब गौण हैं, क्योंकि साधना से इनकी प्राप्ति हो

1. भगवद्गीता-VII-18, अव्यक्तात् व्यक्तय:

ही जाती है। साधना से सर्वप्रथम जीवन-मुक्ति की प्राप्ति होती है, अर्थात् जीवित रहते ही मनुष्य को स्वर्गोपम आनन्द मिलने लगते हैं। यही बुद्धत्व या तीर्थंकर पद की प्राप्ति है। साधक जीवित रहते ही बुद्ध या महावीर या सिद्ध होता है, अवतार कहलाता है। आगम ग्रंथों का यही लक्ष्य है।

आगम और तंत्र

प्रत्येक धर्म के अलग-अलग आगम ग्रंथ हैं। बौद्ध एवं जैन मतों का विशाल आगम साहित्य है। इसी तरह वैष्णव, शैव और शाक्तों के भी अपने-अपने आगम ग्रंथ हैं। प्रत्येक आगम में 4 प्रतिपाद्य विषय होते हैं: जैसे ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। श्री द्विवेदी का उनके ग्रंथ "आगम और तन्त्रशास्त्र" में कथन है, "यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पाञ्चरात्र संहिताएं ही उक्त नाम के 4 पादों में विभक्त हैं, किंतु बिना पाद विभाग के ये सभी विषय प्राय: सभी तन्त्र ग्रंथों[1] में प्रतिपादित हैं"[2]। अनेक भारतीय व अभारतीय विद्वान् इस निष्कर्ष पर आये हैं कि आगम और तन्त्र समान हैं। करपात्री जी के अनुसार "असल में आगम व तन्त्र दोनों पर्याय वाचक ही हैं।[3] स्वामी नन्दनन्दानन्द सरस्वती का मत है "आगम शास्त्र का ही दूसरा नाम तन्त्रशास्त्र प्रतीत होता है"[4]। बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि "तन्त्रों का दूसरा नाम आगम है"[5]।

आगम और तन्त्र को समान अर्थी मान लेने पर कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथमत: विभिन्न धर्मों के विभिन्न आगम हैं। शैव एवं वैष्णव संप्रदायों के स्वतंत्र आगम ग्रंथ हैं। इसी तरह बौद्ध एवं जैन आगम भी हैं। शाक्त, सौर्य एवं गाणपत्य के स्वतंत्र आगम ग्रंथ नहीं हैं; लेकिन इनके तन्त्र स्वतंत्र रूप से उपलब्ध हैं। तन्त्र संबंधी अनेक अवधारणाओं एवं साधनों

1. लेखक का मत है कि आगम और तन्त्र में कोई भेद नहीं है, लेकिन धर्मों की भिन्नता से प्रत्येक के आगम व तन्त्र अलग-अलग हैं।
2. परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1984, पृ. 2.
3. सन्मार्ग, आगम विशेषांक, अंक 203, पृ.11.
4. वही, पृ. 19.
5. भारतीय दर्शन, पृ. 511.

के वर्णन उपनिषद्, पुराण, संहिता, स्तोत्र आदि ग्रंथों में हैं। लेकिन ऐसे ग्रंथों को आगम या तन्त्र में नहीं रखा जाता। द्वितीय : तन्त्र शब्द के शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि प्रचलित अर्थ एवं व्यवहार के अनुसार तन्त्र सिद्धांत एवं साधना का वह पक्ष है जिसमें इष्टसिद्धि के लिये मंत्र, तंत्र, यंत्र, न्यास, मण्डल, कुण्डलिनी योग, पञ्चमकार, कृत्या (जादू, टोना, अभिचार), रसायन आदि का प्रयोग किया जाता है। सिद्धियाँ प्राप्त करना साधक का लक्ष्य रहता है। यह विशेषकर वैष्णव आगम तंत्र में नहीं है। तृतीय : तंत्र साहित्य की एक विशेषता है कि अधिकांश तन्त्र ग्रंथों में (वैष्णव के सिवाय) शिव वक्ता हैं और शक्ति (पार्वती) श्रोता। अर्थात् तान्त्रिक साहित्य में शैव व शाक्त संप्रदायों का कोई भेद न मानकर तान्त्रिक साधनाओं की व्याख्या की गई है। तन्त्र ग्रंथों में अधिकतर शक्ति या उसके रूपों, विशेषकर सप्तमातृका, दस महाविद्या व नवदुर्गा संबंधी मंत्र व यंत्र दिये गये हैं। लेकिन यह तथ्य निर्विवाद है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों ने स्वतंत्र रूप से अपनी परंपरा के अनुकूल तन्त्र, मंत्र और यंत्रों का विकास किया है। उसी तरह वैष्णव, सौर्य और गाणपत्य संप्रदायों ने भी अपने इष्टदेव की प्रसन्नता एवं फल-प्राप्ति के लिये मंत्रों एवं यंत्रों की रचना की है। लेकिन यह भी सत्य है कि जितना साहित्य तन्त्र-मंत्र पर उपलब्ध है उसका अधिकांश भाग शिव, शक्ति तथा भैरव की उपसना पर केन्द्रित है।

विभिन्न धर्म और तन्त्र

प्रत्येक धर्म में अपने तान्त्रिक साहित्य का विकास हुआ है। कोई भी तान्त्रिक ग्रंथ ऐसा नहीं है जो सर्वमान्य हो। इसका प्रमुख कारण है उपास्य की भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ तथा उसे प्राप्त करने के साधन। मंत्र, मुद्रा, यंत्र आदि इसके साधन हैं। लेकिन शैव, शाक्त तन्त्रों में एक स्वतंत्र एवं भिन्न दृष्टि विकसित हुई है। यद्यपि उसके बीज वैदिक संहिताओं एवं पुराणों में भी उपलब्ध हैं, फिर भी एक बात स्वीकारनी होगी कि शाक्त और तन्त्र-परंपरा की जागतिक समस्याओं के प्रति आग्रहपूर्ण दृष्टि उनकी विशेषता है। शत्रु व बीमारी से मुक्ति, प्रेम-संबंध, मुकद्दमेबाजी, वाद-विवाद

में जय, पुत्र-प्राप्ति, सुख-शांति लाने, भूत-प्रेत भय से मुक्ति, व्यापार-वृद्धि, धन-संपत्ति प्राप्ति आदि के बाधक तत्वों को दूर करने के लिये उपास्य को प्रसन्न करने के निमित्त तन्त्र में जैसा उपास्य वैसा मंत्र, यंत्र, मुद्रा आदि की विवेचना है। वैष्णव व शैव मत गौण रूप से इन जागतिक समस्याओं को दूर करने का वचन देते हैं, लेकिन यह मुख्य स्वर नहीं है जैसा कि विशाल तान्त्रिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।

तान्त्रिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य

तान्त्रिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन्मुक्ति है। इसकी प्राप्ति के लिये शारीरिक व मानसिक बाधाओं के शमन, रोगों के लिये औषधि और शक्ति के लिये रसों की खोज मुख्य विचारणीय विषय हैं। कुण्डलिनी जागरण से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों का ऊर्ध्वमुखी होना, तान्त्रिक साधना की विशेषता है। लेकिन यह शुद्ध व सात्विक साधना है जिसका नाना प्रकार की सिद्धियों से कोई लेना-देना नहीं है। सिद्धियाँ मार्ग में मिलती हैं, तब भी साधक का मुख्य उद्देश्य जीव को सहस्रार में पहुँचाकर शिव-सायुज्य की प्राप्ति है। यही परमानंद की स्थिति है।

बौद्ध और जैन तन्त्र भी जागतिक दृष्टि से दूर नहीं हैं। उपास्यों की भिन्नता के कारण मंत्र, मुद्रा, न्यास आदि की भिन्नता है, लेकिन जागतिक बाधाओं को दूर करने की बात में समानता है।

आगम ग्रंथ

"आगम" नाम से शैव तथा वैष्णव संप्रदायों में जो ग्रंथ पाये जाते हैं उनकी संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत की जाती है। किरणागम के अनुसार शैव संप्रदाय में 28 आगम हैं। इनमें से 10 शिवागम और 18 रुद्रागम हैं।[1] यह

1. दस शिवागम-कायिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, सुदीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, सुप्रभेद, अंशमान।
2. अठारह रुद्रागम - विनय, परमेश्वर, निःश्वास, प्रोद्गीत, मुखबिम्ब, सिद्धमन, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रहास, भद्र, स्वायंभुव, विरज, कौरव्य, माकुट, किरण, ललित, आग्नेय,

अंतर वक्ता का है, प्रथम के वक्ता शिव दूसरे में रुद्र हैं। मूल रूप से 'रुद्र' वैदिक देवता हैं, लेकिन ईसा की 6-7वीं सदियों पूर्व हड़प्पा-कालीन सभ्यता से चले आये "शिव" अपनी समग्र परंपरा के साथ वैदिक "रुद्र" से समन्वित हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक परंपरा ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने के लिये इन ग्रंथों की रचना की होगी, फिर भी, शिवोपासना संबंधित अनेक बातों को ग्रहण कर लिया होगा।

शिवागम और रुद्रागम में एक छोटा भेद श्रीकण्ठी संप्रदाय ने किया है जिसके अनुसार शिवागम भेद-प्रधान शैव तन्त्र है और रुद्रागम भेदाभेद प्रधान हैं। स्वायम्भुव आगम (रुद्रागमों में से एक) का मत है कि "शिव मुख से उत्पन्न ज्ञान स्वरूपतः एक होने पर भी अर्थ सम्बन्ध भेद से विभिन्न प्रकार का है। वक्ता के भेद से जैसे ज्ञान भिन्न होता है वैसे ही एक-वक्तृज्ञान भी श्रोता के भेद से भिन्न होता है (तान्त्रिक साहित्य कविराज, रा.प्र.दास टंडन हिन्दी भवन, 1973, पृ. 16)।[1] इस आधार पर शिवागम के प्रत्येक आगम के तीन श्रोता हैं, कुल आगम 10 हैं, इस तरह प्रत्येक आगम की तीन परंपराएँ हैं, अर्थात् शिवागम में कुल 30 परंपराएँ हैं। इसी तरह 18 रुद्रागमों में प्रत्येक के 2-2 श्रोता हैं, इस तरह कुल 36 परंपराएँ हैं। यह सामग्री किरणागम (रुद्रागमों में से एक) में उपलब्ध है।

कायिक आगम (शिवागम) के अनुसार इन आगमों का स्रोत सदाशिव के पाँच मुखों–शिव, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर से है, और प्रत्येक मुख से 5 लौकिक और 5 वैदिक आगमों का सृजन हुआ है। इस तरह 25 लौकिक आगम हैं और 25 वैदिक। यह संख्या (50) बहुत कुछ शिवागम और रुद्रागम की परंपराओं की सम्मिलित संख्या (56) से मिलती है। इस विवरण में भी लौकिक व वैदिक आगमों का अंतर किया है, और लौकिक आगम में सिद्धान्तागम (मुक्तिदाता), गारुड़ तन्त्र (विषहर तन्त्र), वशीकरण, भूत तन्त्र, भैरव तन्त्र (शत्रुक्षयकर)। यह विवरण भी कायिकागम में उपलब्ध है।

---

1. हिन्दू धर्म कोश, पाण्डेय, पृ. 79.

इन आगमों के रचना काल संबंधी कुछ विचार कर लेना चाहिये। उपर्युक्त शिवागम व रुद्रागम की सूची "किरणागम" में दी गई है जोकि रुद्रागम में से एक है। इस आगम की प्राचीनतम पाण्डुलिपि 924 ई. की है। निःश्वास तन्त्र संहिता की गुप्त लिपि में एक पाण्डुलिपि नेपाल दरबार ग्रंथालय में मिली थी। यह लिपि ईस्वी की 8वीं सदी में प्रचलित थी।[1] इसमें केवल रुद्रागमों की संख्या दी गई है, लेकिन शिवागमों के संबंध में मौन है। दोनों मतों को मिलाने से ज्ञात होता है कि 10वीं सदी तक ये आगम ग्रंथ प्रकाश में आ गये थे। लेकिन धार्मिक तथा तान्त्रिक साधनाओं का प्रारंभ बहुत पहिले हो गया था। मंदिरों का निर्माण, मूर्ति निर्माण व स्थापन, पूजा-विधान, इष्ट-सिद्धि के साधन, पुरश्चरण आदि के अनेक पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध हैं। अतः साहित्य-निर्माण का काम तो व्यवहार की कई शताब्दियों के बाद होता है। जब परंपराएँ रूढ़ हो जाती हैं, तब उन्हें सामान्य नियम के रूप में साहित्य में स्थान मिलता है।

पाञ्चरात्र आगम

वैष्णव धर्म में पाञ्चरात्र आगमों का अत्यंत महत्व है। वासुदेव या कृष्ण या लक्ष्मी की उपासना विधि के लिये पाञ्चरात्र आगमों का ही आधार लिया गया है। लक्ष्मी तन्त्रम्[2] नामक आगम ग्रंथ की भूमिका में संपादक पंडित वी. कृष्णाचार्य ने इन आगमों की संख्या 225 बताई है। यह संख्या प्रोडर के ग्रंथ "इंट्राडक्शन टू दी पाञ्चरात्र एण्ड दी अहिर्बुध्न्य संहिता" के आधार पर दी गई है।

तन्त्र साहित्य

आगम और तन्त्र को मान लेने पर तन्त्र साहित्य और उपासना का विशेष मार्ग ईसा की 7वीं शताब्दी से प्रकाश में आया था, और जिसकी जन-साधारण में प्रसिद्धि और उपयोगिता को देखकर सभी धर्मों ने अपना लिया था। नास्तिक दर्शन भी उससे अछूते नहीं रहे। वास्तविकता यह है कि बौद्धों की वज्रयान और मन्त्रयान की परंपरा को ही प्रत्येक धर्म ने

1. तान्त्रिक साहित्य, कविराज, पृ. 18.
2. दी अड्यार लायब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, मद्रास, पृ. 10 से 12.

अपने उपास्य, मंत्र और आचार के प्रकाश में विकसित किया। यह परंपरा भी बौद्धों की मौलिक कल्पना नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण और यज्ञ-संस्कृति में तान्त्रिक दृष्टि और सिद्धि के बीज वर्तमान हैं। इस कारण तन्त्रों को आस्तिक और नास्तिक आधार पर भेद करके नहीं देखा जा सकता। फिर भी उपास्य-भेद व मंत्र-भेद के आधार पर तन्त्रों को आस्तिक नास्तिक कहा जा सकता है। जैसे कि तीर्थंकर और भगवान् बुद्ध को उपास्य मानकर उनकी कृपाकांक्षा प्रकट करना किसी तन्त्र को जैन या बौद्ध कहने का पर्याप्त कारण है।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के भाष्य में पाञ्चरात्र, शैव व शाक्त संप्रदायों को अवैदिक या नास्तिक कहते हैं। लेकिन परवर्ती हिन्दू-साधना के इतिहास में वैष्णव, शैव व शाक्त संप्रदाय अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वेदानुयायी लोग शैव धर्म को पाखंड या नास्तिक कहा करते थे (लिंगार्चन पुरा: शैवा नास्तिका: परिकीर्तिता:)। शाक्त धर्म के प्रति भी वैदिक लोग उदार नहीं रहे। वैष्णव धर्म के प्रति कटुता का शमन इसलिये होता रहा कि विष्णु वैदिक देवता हैं और राम व कृष्ण उनके पौराणिक अवतार हैं। वास्तविकता तो यह है कि आज जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं उसमें से वैष्णव, शाक्त शैव व गाणपत्य उपासना निकाल दें तो वैदिक धर्म (या हिन्दू धर्म) के नाम से कुछ भी शेष नहीं रह जायेगा। इस बात का उल्लेख इसलिये आवश्यक है कि तन्त्र किसी न किसी धर्म के अंग हैं। जैसे "लक्ष्मी तन्त्र" वैष्णव है, "गणपति मन्त्र समुच्चय" गाणपत्य, कायिकागम शैव धर्म, "कौल तन्त्र", "तारा रहस्य दीपिका", "काली तन्त्र" शाक्त धर्म। लेकिन अधिकतर तान्त्रिक साहित्य शैव व शाक्त धर्म से ही संबंधित है। बौद्ध एवं जैन के बिल्कुल भिन्न तन्त्र ग्रंथ हैं।

शाक्त धर्म के अंतर्गत तन्त्रों की एक स्वतंत्र धारा विकसित हुई जिसमें पञ्च-मकार की साधना का महत्व है। इससे संबंधित विशाल साहित्य को भी दक्षिणाचार और वामाचार में बांटा जा सकता है। दक्षिणाचार तन्त्र वैदिक मार्गानुसारी है और वामाचार मार्ग वैदिक मार्ग परिभ्रष्ट है।[1]

---

1. लक्ष्मी तन्त्र, भूमिका।

शाक्त धर्म की व्यापक व्याख्या, अर्थात् शक्ति की पूजा या नारी को शक्ति का केन्द्र मानकर उसे उपासना का एक महत्वपूर्ण भाग मानने या उसे ही उपास्य मानने पर अनेक धर्मों को शाक्त संप्रदाय के अंतर्गत रखा जा सकता है। रामाश्रयी शाखा में सीता को प्रमुख उपास्य मानने वाले लोगों तथा धर्म-पुस्तकों की कमी नहीं है। सीतोपनिषद् को अथर्ववेदीय मानते हैं, और उसके अनुसार सीता शक्तिरूपा, प्रकृति-स्वरूपा, योगमाया-स्वरूपा, बुद्धि-स्वरूपा, प्रणव-स्वरूपा, सर्वाश्रयी (चेंतन एवं जड़ दोनों की स्वरूपभूता) तथा अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य से युक्त है। जैसे शिव बिना शक्ति के शव हैं, उसी तरह राम भी बिना सीता के प्राणवान नहीं हैं।[1] कृष्णाश्रयी शाखा के राधावल्लभीय मत में "राधा को कृष्ण से उच्च स्थान देते हैं।... कृष्ण राधा के सेवक या दास हैं, वे उनके मंत्री हैं"।[2] उक्त विचारों के समर्थक कुछ उपनिषद् भी हैं, जैसे "श्री राधिकातापनीयोपनिषद्" तथा "श्री राधोपनिषद्"। इनमें ऐसा लगता है कि "सीता" के स्थान पर "राधा" का नाम रखकर शब्दों के हेर-फेर से वही वर्णन है। इसका अर्थ यह है कि शक्ति उपासना को सभी ने स्वीकार किया है, यहाँ तक कि बौद्ध एवं जैन धर्मों ने भी।[3]

लेकिन शाक्त एवं तन्त्र साहित्य में शक्ति की उपासना, विभिन्न साधन और सिद्धियों की चर्चा है। इस साधना के तत्व जैसे कुण्डलिनी, योग, मंत्र, यंत्र, षट्कर्म, (अभिचार), सिद्धियाँ, पञ्चमकार, हठयोग, अधिकार भेदभाव, गुरु-शिष्यवाद आदि तान्त्रिक साहित्य को अन्य शक्ति उपासकों से बिल्कुल भिन्न उपस्थित कर देते हैं। इसी आलोक में तान्त्रिक साहित्य के दक्षिणाचार और वामाचार के वर्गीकरण पर विचार करना चाहिये। यह भेद दो बिन्दुओं के आधार पर किया गया है। प्रथम वेदमार्ग का अनुसरण और पञ्चमकार की साधना। प्रथम दृष्टया वे तान्त्रिक जो पञ्चमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन) को साधना का अनिवार्य

1. उपनिषद् अंक, गी.गो., पृ. 657
2. हिन्दू धर्म कोश, पांडे, पृ. 549
3. तान्त्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी, काशी, स. 2015, पृ. 92.

अंग मानते हैं, वे वामाचारी व अवैदिक हैं। शेष सभी दक्षिणाचारी एवं वैदिक हैं।

बौद्ध एवं जैन तन्त्रों को छोड़कर श्री गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रंथ "तान्त्रिक साहित्य की भूमिका" में मुख्यतः 64 ग्रंथों की सूचियाँ जोकि विभिन्न तन्त्र ग्रंथों में उपलब्ध हैं, उदधृत की हैं। उन्होंने दक्षिणाचार व वामाचार का विचार सामने नहीं रखा। उनकी दृष्टि में वैदिक व अवैदिक तन्त्र मुख्य भेद हैं। प्रत्येक सूची में 64 तन्त्र ग्रंथ हैं :

1. श्री कण्ठी संहिता के अनुसार भैरव तन्त्र 64 अद्वैत प्रधान।
2. वामकेश्वर तन्त्रानुसार एवं सौंदर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर सम्मत 64
3. भास्कर राय सम्मत 64
4. सर्वोल्लास तन्त्र जो तोडल तन्त्र से मिलती है 63
5. रथक्रांता के अनुसार–महासिद्धिसार तंत्र से 64
6. विष्णुक्रांता के अनुसार– " 64
7. अश्वक्रांता के अनुसार– " 64
8. कुल चूड़ामणि तंत्र 64

उपर्युक्त सूचियों के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण विचार

(अ) श्री कण्ठी संहिता के भैरव तन्त्र अद्वैत दृष्टि से सूचीबद्ध हैं।

(ब) उपरोक्त सूचियों के सभी तन्त्र ग्रंथों को सौंदर्यलहरी के टीकाकार अवैदिक कहते हैं। लेकिन इस मत को 18वीं सदी के भास्कर राय ठीक नहीं मानते [1], यद्यपि उन्होंने ग्रंथों में ऐसी कोई भेदक रेखा नहीं खींची है।

(स) सभी सूचियों में ग्रथों के नाम समान नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूची–कर्ता ने अपने सम्प्रदाय–सम्मत ग्रंथों को सूची में स्थान दिया है। जैसे लक्ष्मीधर सम्मत वामकेश्वर तन्त्र में 55 एवं

---

1. तान्त्रिक साहित्य, कविराज, भूमिका, पृ. 19

56वें तन्त्रों का नाम अरुणेश व मोदिनीश है, जोकि कविराज जी द्वारा संकलित महान सूची में एक ही "अरुणामोदिनी" नामक ग्रंथ है और वह भी आनन्दलहरी "सौंदर्यलहरी के प्रथमांश" पर कामेश्वर की टीका का नाम है। एक अलग "अरुणेश्वर तन्त्र" भी है जो "अरुणेश" के नाम से वामकेश्वर तन्त्र की सूची में है। लेकिन ये नाम अन्य सूचियों में शामिल नहीं हैं।

(द) यदि उपरोक्त सूचियों को अवैदिक मान भी लें, तब भी यह भेद कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि उपरोक्त सभी तन्त्र पञ्चमकार की साधना को स्थान देते हैं या नहीं देते या पञ्चमकारों को अहिंसात्मक दृष्टि से परिवर्तित करके स्थान देते हैं? (ऐसा कई तन्त्र ग्रंथों में किया गया है। कुलार्णव तन्त्र V, योगिनी तन्त्र VI, परशुराम कल्पसूत्र पर भाष्य X-63, महानिर्वाण VIII-172-70, शक्ति संगम तन्त्र इसके उदाहरण हैं। कांसी के पात्र में नारियल का जल ही क्षत्रिय व वैश्य की सुरा है। (योगिनी VI-35), ब्राह्मण के लिये गुड़ व अदरख का रस मिलाना सुरा है। (योगिनी VI-35), ब्राह्मण के लिये गुड़ व अदरख क रस मिलाना सुरा है। वही VI-34)।

उपरोक्त चर्चा से हमारा आशय केवल यही बताना था कि आगम ग्रंथों में पञ्चमकार, कुंडलिनी, अभिचार (षड्कर्म) नहीं है। मंत्र तो प्रत्येक आगम में हैं, लेकिन यंत्रों का इतना विषद् वर्णन उनमें नहीं मिलता। उनमें उपास्य की चर्चा, तत्संबंधी दार्शनिक सिद्धांत, जगत् संबंधी दृष्टिकोण, मोक्ष विचार, मंदिर निर्माण व मूर्ति स्थापना पर व्यापक विचार होता है। आगमों के रचनाकाल के संबंध में शैवागमों में कायिकागम को प्राचीन माना है, लेकिन निश्चित नहीं है कि किस सदी का है। कारणागम 9वीं सदी का है। शाक्तागमों की रचना भी 9-10वीं सदी के बाद की है। पाञ्चरात्र आगमों में लक्ष्मी तन्त्र को 9 से 12वीं सदी की रचना माना जाता है (भट्टाचार्य, एन.एन., हिस्ट्री ऑफ दी शाक्त रिलिजियन, पृ.145)। इसके विपरीत तन्त्र ग्रंथों के संबंध में निश्चित है कि बौद्ध तन्त्रों का आविर्भाव हिन्दू तन्त्र ग्रंथों के बहुत पूर्व हो गया था। गुह्य

समाज तंत्र 5-6वीं सदी की कृति माना जाता है (भट्टाचार्य, एन.एन. हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन, पृ.59)। इसी तरह साधनमाला भी 8वीं सदी की कृति है। हिन्दू तन्त्रों में इतनी प्राचीन रचना कोई भी नहीं है। अधिक से अधिक इन तन्त्रों का काल 7वीं सदी से 13वीं सदी तक माना जा सकता है। तान्त्रिक ग्रंथों की रचना 18वीं सदी तक चलती रही जिसमें भास्कर राय सरीखे विद्वान् तान्त्रिकों ने कई महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं।

2

तन्त्र : एक आलोचनात्मक अध्ययन

तन्त्र के सिद्धांत और पृष्ठभूमि

विश्व में प्राकृतिक तत्वों के अतिरिक्त शेष सृष्टि का निर्माता मनुष्य है। उसने इन तत्वों का भरपूर उपयोग किया है, और अपने भौतिक जीवन को संवारा है। सभी प्राकृतिक तत्व उपकारी हैं, बदले में मनुष्य ने उनको प्रदूषित करके उनका शोषण ही अधिक किया है। नदियों का पानी विषैला हो गया है। न पेड़-पौधों को ऐसे जल से सींचा जा सकता है, न ही पशुओं को पिलाया जा सकता है। तन्त्र में प्रारंभिक विचार ही यह है कि मनुष्य पूरी सृष्टि का सूक्ष्म रूप है। जो भी प्राकृतिक तत्व बाहर सृष्टि में हैं, वे ही सब मानव-शरीर में स्थित हैं। इसी कारण शाक्त-पूजा या तान्त्रिक साधना में "न्यास" एक महत्वपूर्ण क्रिया है। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों में देवी, देवता या प्राकृतिक तत्वों के अस्तित्व की भावना करके नमन किया जाता है। तारातन्त्र का मत है कि बिना न्यास के पूजा या साधना अर्थहीन है। (II-3)। पूजा की यह विधि इस तथ्य का स्मरण कराती है कि हमारा शरीर पंच महाभूतों के साथ समस्त दैवीय शक्तियों की समष्टि है जो अंश रूप में शरीर में स्थित है, उसे पूर्णत्व की प्राप्ति की ओर मोड़ना है। पूर्णत्व में शरीर का नाश नहीं होता वरन् शरीर के प्रत्येक भाग में स्थित तत्व पूर्णता की ओर बढ़ने में सहायक होते हैं। इसी कारण तन्त्र में जीवन्मुक्ति का अत्यधिक महत्व है। साधना के क्षेत्र में जीवन्मुक्ति की अवधारणा सर्वथा मौलिक है। तन्त्रों के संबंध में कोई भी निर्णायक टिप्पणी करने के साथ यह ध्यान रखना नितांत आवश्यक है कि तन्त्र-दर्शन और साधना वैदिक काल से चली आ रही परंपरा में एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक कड़ी है।

तान्त्रिक दृष्टि का महत्व इससे प्रकट होता है कि वैदिक और अवैदिक सभी परंपराओं ने इसे अपनाया है। आज जिसे हम हिन्दू, बौद्ध व जैन धर्म कहते हैं, उनका अधिकांश भाग तान्त्रिक साधना और कर्मकांडों से प्रभावित है। हिन्दुओं में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर्य, गाणपत्य आदि की भी तान्त्रिक पृष्ठभूमि है। इसका अर्थ यह है कि वैदिक परंपरा जब एक ओर याज्ञिक कर्मकांडों में उलझ गई और दूसरी ओर उपनिषदों व आरण्यकों में आत्मा या ब्रह्म के गहन गह्वर में लुप्त होने लगी, तब जन-साधारण की आध्यात्मिक व धार्मिक प्यास की तृप्ति के लिये मानव-धर्म की गंगा बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि अनेक शाखाओं में बंटकर बहने लगी। वैदिक परंपरा के कर्मकांड और साहित्य ग्रंथों को समझने व समझाने के लिये पुरोहितों और भाष्यकार, टीकाकार, वृत्ति और निवृत्तिकारों की ऐसी लंबी परंपरा चल पड़ी कि मूल ग्रंथ ही भाष्यों एवं टीकाओं के जंगल में खो गये। जन-साधारण से कल्पना करना कि वे इन ग्रंथों को भाष्यों की सहायता से समझकर अपना जीवन-मार्ग निश्चित करेंगे, आकाश-पुष्प खोजने जैसा ही होगा। वैदिक-साहित्य पंडित, पुरोहित और विद्वानों के वाग्विलास और मनोरंजन की वस्तु बन गये और साधारण आदमी शोषित होकर भी उनका सम्मान करता रहा। यही वृत्ति जैन, बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा आदि में भी विकसित हो गई थी। यह स्थिति 8वीं सदी में शंकराचार्य के समय से अधिक बलवती हो गई और न्यूनाधिक रूप में आज भी चल रही है।

तन्त्र का उदय

यही काल तान्त्रिक साहित्य के निर्माण और साधनों का काल है। सभी धर्मों ने अपने-अपने तन्त्र विकसित कर जन-साधारण को भ्रमित होकर भटकने से बचा लिया और जीवन-केन्द्रित दर्शन, साहित्य और साधना की राह दिखाकर उनका निराशा से उद्धार किया। इसका आशय यह नहीं है कि तान्त्रिक-साधना से उपलब्ध सिद्धियों व सांसारिक समस्याओं के निराकरण और कुशलक्षेम के लिये 7-8वीं सदी के पूर्व कुछ नहीं था। हमें यह स्मरण रखना होगा कि चाहे अध्यात्मज्ञान हो या

तान्त्रिक साधना या वैज्ञानिक प्रयोगों से होने वाली उपलब्धियाँ, सभी के केन्द्र में मानव-जिजीविषा है। मनुष्य के सामाजिक जीवन से हटकर न कोई दर्शन और न ही विज्ञान सफल हो सकता है। अतः मूल वृत्ति की खोज वेदों के काल से ही करना चाहिये। वेद जन-जीवन के अत्यधिक समीप हैं। वैदिक आर्यों को भारत के प्राकृतिक परिवेश में अपने संतुलित एवं समग्र जीवन की खोज करनी थी। वह काल आज जैसा सभ्यता-मंडित, वर्धित और साथ ही दूषित नहीं था। शुद्ध एवं पवित्र परिवेश में श्वास लेता हुआ वह प्रगति कर रहा था। फिर भी भय, आशा, निराशा, आकांक्षा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, जिजीविषा तो मानव-मात्र के चिरकाल से संगी साथी हैं। शारीरिक, मानसिक व दैविक कष्ट भी लगे रहते हैं। सुख की चाह और दुःख से निवृत्ति भी प्रत्येक मनुष्य में जन्मजात रही है। वैदिक आर्य भी इनसे मुक्त नहीं थे। जंगली जानवरों से रक्षा के लिये बंदूक व पिस्तोल तो उनके पास नहीं थे, लेकिन लकड़ी, अग्नि और साहस उनके अस्त्र थे। वे अपने तीर कमानों से ही शत्रु पर विजय की कामना रखते थे। ऋग्वेद में दैनंदिन समस्याओं के निराकरण के लिये मन्त्र थे जैसे नींद लाने वाला मन्त्र (17.55.5-81) जिसका उपयोग रोगी को रोगमुक्त करने के लिये होता था। जब किसी पत्नी की सौत होती थी, तब उससे मुक्त होने के लिये भी मन्त्र थे (10.145)। उस काल में भी अभिचार करने वाले अर्थात् मन्त्र-तन्त्र द्वारा मारण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण करने वाले लोग थे, जिनसे आर्य बहुत डरते थे और इनके लिये "यातुधान" और "राक्षस" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभिचारों से बचने के लिये मन्त्र है, (7.10.4. 15,16,18)। एक मन्त्र में (7.104. 24) जादू-टोना करने वाले पुरुष और महिलाओं से बचने का साधन बताया है। गृह्य सूत्र और अथर्ववेद में "कृत्या दूषण" अभिचार के प्रभाव को दूर करने वाले के लिये प्रयुक्त हुआ है (2.1)। अथर्ववेद (3.125, 6 130) में ऐसे भी साधनों को दिखाया गया है जिनमें एक पुरुष एवं नारी द्वारा अपनी प्रेमिका एवं प्रेमी को वश में करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। उपनिषदों में भी ऐसे संदर्भ हैं जिनमें मनचाही संतान प्राप्त करने के लिये कुछ मंत्र, औषधि और भोजन सामग्री का उल्लेख हुआ है।

(वृहदारण्यक VI-4)। यहं बात अवश्य है कि दैनिक समस्याओं के निराकरण के लिये जितने साधन वेदों में (विशेषकर अथर्ववेद) में दिये गये हैं उससे बहुत कम संदर्भ उपनिषदों में हैं; क्योंकि वे मूलतः ज्ञानकांड के पोषक हैं। बात को बिना बढ़ाते हुए यह कहना उपयुक्त होगा कि वैदिक परंपरा के ग्रंथ हों या अवैदिक (बौद्ध, जैन आदि), सभी में जितनी रचना और साधना 7-8वीं सदी के बाद सभी धर्मों में हुई है, वह कल्पनातीत है। इन सदियों में भारतीय जनता इतनी समस्याग्रस्त हो गई थी कि उसे ज्ञान और भक्ति की साधना करने की अपेक्षा तान्त्रिक साधना में अपनी आशा-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अधिक साधन उपलब्ध थे।

शाक्त मत में साधना से फल प्राप्ति

तन्त्रों के पूर्व जागतिक अस्तित्व में आने वाले दु:खों, कष्टों एवं बाधाओं को देवी की भक्ति से दूर करने का प्रयास शाक्त धर्म में हो गया था। मार्कण्डेय पुराण के अंतर्गत दुर्गासप्तशती में देवी को "अभ्युदयदां" "लोकत्रये फलदां" "दारिद्र्यदु:खभयहारिणि", "श्रद्धा सताम्" "कुल जन प्रभवस्य लज्जा"[1] आदि अनेक लोक हितकारी कार्य करने वाली तथा वरदान देने वाली कहा है। साधकों ने सामूहिक कल्याण, अशुभ तथा भय का विनाश करने, विश्व के पाप-ताप निवारण, विपत्ति व रोगनाश, महामारी से मुक्ति, आरोग्य और सौभाग्य की प्राप्ति, सुलक्षणा पत्नी की प्राप्ति, दारिद्र्य दु:खनाश; शक्ति, भुक्ति-मुक्ति, स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति के लिये सप्तशती में से अनेक श्लोक छांट लिये हैं, जिनके निरंतर जप और देवी की उपासना से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। उपनिषदों एवम् अन्य धर्मों की पारलौकिक एवं शाब्दिक दृष्टि से विपरीत शाक्तों की दृष्टि सर्वथा लौकिक है जिसका संबंध मनुष्य के दैनिक जीवन से है। तन्त्रों ने इसी दृष्टि का पल्लवन किया है जिसमें मंत्र, यंत्र, चक्र, मुद्रा, न्यास, भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न देवियों या देवों का चयन, कुंडलिनी जागरण, पंचमकार आदि का समावेश करके एक सर्वथा नई दार्शनिक एवं साधनात्मक प्रणाली की स्थापना की है।

---

1. दुर्गासप्तशती, अध्याय चतुर्थ.

तन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

धातुपरक व्याख्या

तन्त्र शब्द दो धातुओं "तन" व "त्रै" से मिलकर बना है। "तन" धातु का अर्थ विस्तार करना, फैलाना, तानना, उत्पन्न करना, रूप देना, ग्रंथादिक लिखना, रचना करना आदि है। "त्रै" का अर्थ रक्षण करना है। "तन्त्र" का धातु-मूलक अर्थ होगा "जिस किसी वस्तु, विचार या शक्ति का विस्तार किया गया है (या हुआ है) उसकी रक्षा करना। विस्तार होने या करने मात्र से विस्तृत की रक्षा नहीं होती, उसके लिये साधना की आवश्यकता है। शरीर अपने आप विस्तृत होता है, लेकिन उसकी रक्षा के लिये उपयुक्त परिवेश की आवश्यकता रहती है जैसे यथायोग्य वस्त्र, भोजन, संयम आदि। लेकिन यदि शरीर का मनचाहा विस्तार करना चाहते हैं तो व्यायाम, पुष्टिकारक भोजन एवं ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। साधना के क्षेत्र में तन्त्र के ही साथ मंत्र, यंत्र और योग भी अनिवार्य हो जाते हैं।

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।

इसी उद्देश्य को साधारण भाषा में कह सकते हैं कि तन्त्र का अर्थ शरीर रक्षा (तन + त्रै), मंत्र का अर्थ मन की रक्षा (मन + त्रै) और यंत्र का अर्थ है साधन, उपकरण। इस तरह शरीर व मन (इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि एवं पञ्चभूतात्मक शरीर) की रक्षा करने के करण, साधन या उपकरण। आक्रमण होने पर अपनी सुरक्षा अपने अवयवों से करते हैं, लेकिन हाथ में डंडा या पिस्तोल आ जाने पर हाथों की शक्ति बढ़ जाती है। इसी तरह ज्ञानेंद्रियों की शक्ति भी बढ़ जाती है। इस तरह तन्त्र की व्यापकता में प्रत्यक्ष रूप से मंत्र, यंत्र और योग तो आते ही हैं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से औषधि-विज्ञान, शिल्प, संगीत, कला, सभ्यता व संस्कृति भी समा जाते हैं, क्योंकि सभी ज्ञान, विज्ञान और कला का उद्देश्य मानवीय क्षमताओं का उस सीमा तक विस्तार करना है जबकि वह "सोऽहम्" या "अहं ब्रह्मास्मि" की अनुभूति प्राप्त न कर ले।

तन्त्र की परिभाषा

उपर्युक्त विचारों के प्रकाश में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तान्त्रिक साधना के व्यापक क्षेत्र, जिसमें वैदिक और अवैदिक धार्मिक सम्प्रदाय समाहित हों, को देखते हुए ऐसी परिभाषा जो सर्वसम्मत हो, खोजा जाना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है। जहाँ साधना के परमोद्देश्य आराध्य देवी-देवता, पूजा-आराधना व कर्मकांड, मंत्र-यंत्र की भिन्नता हो, ऐसी स्थिति में केवल वर्णनात्मक कामचलाऊ परिभाषा ही दी जा सकती है।

तान्त्रिक साधना के परम उद्देश्य अपने-अपने धर्म व संप्रदाय के अनुसार निश्चित हैं, लेकिन सभी में एक तत्व समान है जो इहलोक या संसार में रहते हुए भोग की प्राप्ति और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को नष्ट करने के लिये मंत्र, यंत्र, मण्डल, न्यास, मुद्रा, हवन आदि अनेक प्रकार के कर्मकांडों से सिद्धि की प्राप्ति करना है। सम्पूर्ण तान्त्रिक साहित्य जिसमें बौद्ध, जैन, शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, सौर्य और अन्य धर्म जो भारतीय मूल के नहीं हैं यथा इस्लाम, मसीह सभी में सांसारिक जीवन की बाधाओं को दूर करने और वांछित सफलता प्राप्त करने के लिये तान्त्रिक मार्गों का निर्देश किया गया है। इसे हम जीवनमुक्ति की साधना कह सकते हैं। तान्त्रिक साहित्य और साधना में परलोक की सिद्धि की अपेक्षा सांसारिक जीवन में भोग और योग पर अधिक बल दिया गया है। आज जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह तान्त्रिक साधना पर ही पल्लवित और प्रस्फुटित हुआ है।

"तन्त्र" शब्द का साहित्य एवं धर्म में प्रयोग

संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, 1966, पृ. 42) के अनुसार तन्त्र शब्द के अनेक अर्थ हैं : करघा, धागा, कर्मकांड, पद्धति, आश्रित और स्वतंत्र अर्थ में-परतंत्र, स्वतंत्र, तन्त्र संहिता, ग्रंथ आदि। अमरकोश (III-85) के अनुसार अर्थ है : सिद्धान्त, उत्तम औषध, जुलाहा, एक प्रकार का शास्त्र, सामग्री, वेद की एक शाखा। अमरकोश व संस्कृत कोश में दिये गये तन्त्र शब्द के अर्थों में से किसी में भी वह ध्वनि नहीं निकलती जिस अर्थ में तंत्र शब्द का प्रयोग 7वीं-8वीं सदी में प्रचलित हुआ। इसका एक अर्थ निकलता है कि

अमरकोश के प्रकाश में आने (5वीं सदी गुप्तकाल) के पूर्व तक तान्त्रिक साहित्य का सृजन नहीं हुआ था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि देवी/देवताओं की भक्ति व साधना, मंत्रों का उपयोग, मनोवांछित फल की प्राप्ति, जादू-टोना, वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि के प्रयोग नहीं होते थे। शैव, शाक्त व पांचरात्र (वैष्णव) उपासना तो ईसा पूर्व से प्रचलित थी और जादू, टोना, मंत्र आदि के लिये ऋग्वेद से अथर्ववेद तक भंडार भरा है। तन्त्र शब्द का जो अर्थ आज हम लेते हैं, उन अर्थों में इसका उपयोग 8वीं सदी के पूर्व नहीं मिलता।

ऋग्वेद तथा अन्य परंपराओं में तन्त्र का अर्थ

(सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञाय:, 10.71.9) अथर्ववेद (10.7,42) व तैतिरीय ब्राह्मण (2.5.5.3) में भी करघे के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि तन्त्रक शब्द का अर्थ उस वस्त्र से करते हैं जो अभी-अभी करघे से उतारा गया है (5.2.70)। महाभाष्य में पतंजलि ने "सर्वतन्त्र" एवं "द्वितन्त्र" शब्दों का उपयोग किया है। विदित होता है कि उनका आशय सभी सिद्धान्त या एक सिद्धांत के अध्ययन से है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 15वें अधिकरण का नाम तन्त्र युक्ति दिया है। इसमें जीविका को अर्थ कहा है और अपनी जीविका के लिये पृथ्वी के पालन के उपायों की अर्थशास्त्र में चर्चा की है। कौटिल्य का मत यह है कि यह शास्त्र लोगों के मन में अर्थ, धर्म व काम की प्रवृत्ति जाग्रत करता है। इस तरह वेदों में कपड़ा बुनने के यंत्र से आगे चलकर चाणक्य में जीवन को चलाने के उपायों का नाम तंत्र हो गया। इसमें अर्थ, धर्म सभी कुछ इहलौकिक व पारलौकिक समा जाते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के भाष्य में **सांख्य दर्शन को सांख्य-तंत्र और पूर्वमीमांसा को प्रथम-तन्त्र कहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में पुराण को भी तन्त्र कहा है।** अत: मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि 6-7वीं सदी तक तन्त्र शब्द का अर्थ "उपाय, साधन, या कोई सिद्धांत का ग्रंथ" था। 7वीं सदी से प्रारंभ होने वाली साधना के एक विशेष प्रकार जिसमें मंत्र, यंत्र, न्यास, चक्र, मण्डल, मुद्राएं आदि आदि के साधन से अभीष्ट की प्राप्ति हो, का कोई संदर्भ या उल्लेख नहीं है।

तान्त्रिक साधना को शैव या शाक्त संप्रदाय तक सीमित रखना उचित नहीं है, क्योंकि वैष्णव, सौर्य, गाणपत्य आदि मतों में भी तान्त्रिक साधनाएँ हैं। बौद्ध एवं जैन धर्मों में तन्त्रों का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें किसी तरह का आदान-प्रदान नहीं हुआ था। देवताओं में साम्प्रदायिक एकांगिता हो सकती है, और थी भी, लेकिन साधनाओं में पारस्परिक ग्रहणशीलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लक्ष्मी जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त एवं वैष्णव सभी संप्रदायों में तान्त्रिक साधना की उपास्या है। वैदिक परंपरा के पुराणों ने "बुद्ध" को अवतार मानकर ग्रहण कर लिया है तो "तारा" को हिन्दू तान्त्रिक साधना ने।

लेकिन भिन्न-भिन्न संप्रदायों और धर्मों के उपास्य देवों, मंत्रों, मण्डल, चक्र व न्यासों की भिन्नता के कारण सभी को एक सामान्य परिभाषा देकर एक सूत्र में बांध सकना असंभव है। फिर भी कुछेक सामान्य दृष्टियों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

1. जिन अर्थों में "तन्त्र" शब्द आज प्रयुक्त होता है, और जन-साधारण में बहुधा समझा भी जाता है-जैसे यंत्र, मंत्र, तन्त्र, जादू-टोना, वशीकरण, मारण, उच्चाटन, सिद्धि प्राप्ति आदि जोकि मध्ययुगीन तांत्रिक साधना की विशेषता है, तन्त्र शब्द के वेदों से लेकर शंकर तक उपयोग और व्यवहार में कहीं भी अभिव्यक्त नहीं होती। लेकिन यह मानना कि मध्ययुग के पूर्व इन साधनाओं और सिद्धियों से भारतीय मनुष्य अपरिचित था, उपयुक्त नहीं है। ऋग्वेद, अथर्ववेद व ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। यह सही है कि तन्त्र नाम से कोई स्वतंत्र साधना 6-7वीं सदी पूर्व देखने में नहीं आती।

2. धर्म और साधना के इतिहास में यह बात उल्लेखनीय है कि जिस काल में बौद्धों में तान्त्रिक साधना-वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान आदि प्रारंभ हुई थी, उसी काल में वैदिक या अवैदिक सभी धर्मों एवं संप्रदायों में भी प्रारंभ हो गई थी। इसका एक मोटा सा कारण यह प्रतीत होता है कि लगभग सभी धर्म और संप्रदाय लौकिक

तत्वों की अपेक्षा अलौकिक तत्वों जैसे नरक-स्वर्ग, मोक्ष, निर्वाण, आत्मा-परमात्मा, शून्य की ओर अधिक प्रवृत्त हो गये थे। सभी धर्मों में उनके संवाहक और विद्वान् अपने मतवाद के समर्थन के लिये संस्कृत में शास्त्रार्थ और तर्कवाद की ओर मुड़ गये थे। जन-साधारण को कुछ मंदिरों, उनमें बैठे प्रतीकों या प्रतिमाओं और लोभी कर्मकांडी पुरोहितों के भरोसे छोड़ दिया था। छोटे-छोटे राज्यों के राजा अपनी संपत्ति और सत्ता के लोभ में जन-साधारण की आर्थिक व सामाजिक दुरवस्था से बेखबर थे। ऐसी स्थिति में साधना के क्षेत्र में क्रांति आना स्वाभाविक था। यदि वज्रयान की तान्त्रिक दृष्टि बुद्ध धर्म की महायान शाखा की शून्यवादी साधना के खिलाफ लौकिक दृष्टि की क्रांति थी तो शैव, शाक्त और वैष्णव धर्मों की पारंपरिक ब्रह्मवादी दृष्टि के विपरीत एक लौकिक प्रतिक्रिया।

3. तन्त्रों के संबंध में एक आम धारणा बनी हुई है कि इसका संबंध केवल शैव व शाक्त संप्रदायों से है। लेकिन यह उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धर्म और संप्रदाय की अपनी तान्त्रिक दृष्टि होती है। भारतीय धर्मों की, वैदिक हो या अवैदिक की बात छोड़िये, मसीह, इस्लाम व पारसी धर्म के भी अपने मंत्र, तन्त्र, गुरु व इष्टदेव-देवियां होते हैं जो अनुयायियों को उनके जीवन में संकट के प्रत्येक अवसर पर साथ देते हैं। वेदों में तो देववाद नहीं था, प्राकृतिक शक्तियाँ थीं, उनमें भी तान्त्रिक ढंग की प्रक्रियाएं हैं जिनमें मनोवांछित फल प्राप्ति की कामना रहती थी।[1] अथर्ववेद में ढेर सारे मन्त्र हैं जिनसे यथेच्छित फल प्राप्त किये जा सकते हैं।

✪ वास्तव में जीवन व तन्त्र का अपृथक्कनीय संबंध है। जीवन को परिवेश से जोड़ने और अपना जीवन सुलभ करने के लिये तन्त्र के

---

1. 1/7.55.5-8 4/10-145
2/7.21-5 5/10.99-3
3/7-104 6/10-87
7/104-15 से 18.

सहारे फल की प्राप्ति होती है। कपड़ा पैदा नहीं होता। रूई (ऊन या अन्य रेशेदार पदार्थ) को करघे के तन्त्र से निकाल कर ही उसमें शरीर को ढकने का गुण आता है। शिकार मारने के लिये बुलाने के लिये विशेष तरह की ध्वनि करना और तीर-कमान, पत्थर, भाले या बन्दूक से मारना भी तन्त्र क्रिया ही है। इसी तरह जब व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक परिवेश में अपनी कामना पूरी नहीं होती तब तन्त्रों की सहायता ली जाती है। वेदों में वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि क्रियाओं के उल्लेखों का यही मंतव्य है। यह सही है कि जिस तरह समाज के इतिहास में व्यक्ति का विकास हुआ है उसी तरह तन्त्रों के इतिहास में भी नये-नये रूप और नई-नई साधनाओं के प्रकार प्रकट हुए हैं। इसी कारण प्रत्येक धर्म के साथ तन्त्र जुड़ा हुआ है।

4. तन्त्र और पंचमकार :

साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि मंत्र, यंत्र, पंचमकार, जादू, टोना आदि जिस पद्धति में हो वही तन्त्र है। कुछ इस मत के हैं कि पंचमकार ही सभी तन्त्रों का आवश्यक अंग है। श्री काणे का कथन है, "सभी तन्त्रों में एक विषय समान रूप से पाया जाता है, यथा पांच मकार" धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग पांचवाँ (1984), पृ. 14)। इसके समर्थन में महानिर्वाण तन्त्र का निम्न उद्धरण दिया जा सकता है–

"पंचतत्व विहीनाया पूजायां न फलोद्भव (5.24)

मैथुन को पंचम तत्व कहा गया है ओर कौलावलि निर्णय (4.15) में यह मत भी दिया है कि इससे बढ़कर कोई तत्व नहीं है–"यजेश्च मांसमानेन मैथुनाद्यै विशेषत: नान्यथा जायते सिद्धि:।" इससे साधक सिद्ध हो जाता है जबकि केवल मद्य से भैरव ही रह जाता है, मांस से ब्रह्म, मत्स्य से महाभैरव और मुद्रा से साधकों में श्रेष्ठ हो जाता है। केवल मैथुन से ही सिद्ध हो सकता है, अर्थात् एक ही क्रिया से सिद्धि प्राप्त हो सकती है (पंचमैरेव सिद्धो भवति साधक:, कौलावलि निर्णय, 4/15-16)। इसका एक मंतव्य यह

भी है कि अन्य तन्त्रों से मैथुन के सिवाय अन्य चार या कम मकारों के सेवन से सिद्ध नहीं हुआ जा सकता।

- इस संबंध में कुछ बातें ध्यान देने की हैं। प्रथम : पंचमकारों का सेवन बौद्धों की व्रजयान शाखा में विकसित हुआ। इस परंपरा के अनेक सिद्ध बौद्ध एवं ब्राह्मण परंपरा में समान रूप से गिने जाते हैं। व्रजयानी चिंतन, व्यवहार और साधना का रूपांतर ब्राह्मण परंपरा में हुआ है, जिसे वामाचार या वाम मार्ग कहते हैं। अतः पंचमकार केवल वज्रयानी साधन और वाममार्ग में मान्य है। वैष्णव, शैव, सौर्य व गाणपत्य तन्त्रों में पंचमकार को कोई स्थान नहीं मिला। काश्मीरी तन्त्रशास्त्र में भी वामाचार को कोई स्थान नहीं है। वैष्णवों को छोड़कर शैव व शाक्त ने कहीं-कहीं मद्य, मांस व बलि को स्वीकार कर लिया है, लेकिन मैथुन को स्थान नहीं देते।
- वाम मार्ग की साधना में भी 17-18वीं सदी में वामाचार के प्रति भयंकर प्रतिक्रिया हुई थी। विशेषकर महानिर्वाण तंत्र, कुलार्णव, योगिनी तंत्र, शक्ति संगम तंत्र आदि तन्त्रों में पंचमकारों के विकल्प या रहस्यवादी अर्थ कर दिये हैं। जैसे मांस के लिये लवण, मत्स्य के लिये अदरक, मुद्रा के लिये चर्वणीय द्रव्य, मद्य के स्थान पर दूध, शहद, नारियल का पानी, मैथुन के स्थान पर साधक का समर्पण या कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार में विराजित शिव से मिलन। यद्यपि इन विकल्पों में वस्तु-भेद हैं, लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि वामाचार के स्थूल पंचतत्व शक्ति की आराधना के लिये आवश्यक नहीं हैं। लेकिन यह भी सही है कि अभी भी अनेक वामाचारी पंचमकारों का स्थूल रूप में ही सेवन करते हैं। अतः शक्ति-आराधना के लिये स्थूल रूप में पंचमकार न तो आवश्यक हैं न ही उनसे कोई सिद्धि प्राप्त होने की संभावना है।

5. तान्त्रिक साधना में जाति व लिंग का विभेद नहीं है। वर्णों का भेद भी मान्य नहीं है। यद्यपि अनेक तान्त्रिकों ने उच्च वर्णों के लिये दक्षिणाचार व शूद्रों के लिये वामाचार की अनुशंसा की है। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि तन्त्रों में स्त्रियों को भी गुरु की

तरह मान्य किया है। गुरु की अनिवार्यता तान्त्रिक साधना की विशेष बात है।

- तान्त्रिक साधना से भुक्ति और मुक्ति (भोग और योग) दोनों की उपलब्धि हो सकती है, अलौकिक एवम् अद्‌भुत सिद्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि तान्त्रिक साधना से विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों को एक उद्देश्य और साधना पद्धति के मार्ग पर लगा दिया गया है जिसमें वैदिक-अवैदिक का कोई भेद नहीं है।

6. तन्त्रों की व्यावहारिकता इसका महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में मनुष्य को कई प्रकार के कष्ट आते हैं। इन कष्टों को दूर करने के लिये तन्त्र-यंत्र की सहायता ली जाती है। ज्वर उतारने, चेचक के प्रकोप को कम करने के लिये शीतला माता को प्रसन्न करने, सर्प विष उतारने के लिये मनसादेवी की मन्नत, युद्ध में विजय प्राप्त करने, कार्य में सफल होने, कोई सा रोग दूर करने, वशीकरण, उच्चाटन, मारण, स्तंभन आदि मंत्रों का प्रयोग अनेक बार किया जाता है। पुत्र-प्राप्ति, व्यापार-वृद्धि, भूत-प्रेत भय हरणकर्ता, लक्ष्मीप्रद, सुख प्राप्ति, प्रसव पीड़ा को हरने आदि के लिये अलग-अलग मंत्र व यंत्र और देवियाँ हैं। जब जीवन में साधारणतया अपने रोग-शोक से मुक्ति के आसार नहीं दिखाई देते तब तन्त्र-मंत्र का सहारा लिया जाता है। इसमें तान्त्रिकों के सिद्ध होने और मन्त्र-यन्त्र की शक्ति में विश्वास होना अनिवार्य्र है। आज भी लोगों का तन्त्र-मंत्र में इतना विश्वास है कि भारत की राजधानी में अनेक साधु-बाबा व तान्त्रिकों ने अपने स्थायी निवास बना लिये हैं। जन-साधारण के अलावा राजनेता भी एक-न-एक तान्त्रिक को अपना गुरु बनाये हुए हैं। यह विश्वास है कि चुनावी दौड़ और मंत्री पद पाने की होड़ में तान्त्रिक ही मदद कर सकता है, क्योंकि बहुत कुछ अनिश्चित ही रहता है।

7. ब्राह्मण परंपरा के तन्त्रों में देवी की ही प्रधानता है, फिर वह चक्र पूजा हो या शव-साधना या किसी रोग या आपत्ति को हरने वाले

मंत्र की आराध्या। अधिकतर देवियों के फलदाता होने और इच्छापूर्ति करने में कार्य विभाजन है। सरस्वती ज्ञान की देवी है जबकि दुर्गा दुश्मनों पर विजय प्राप्त करने में सहायक होती है। तान्त्रिक या साधक इस बात को जानते हैं कि किस उद्देश्य से किस देवी को प्रसन्न किया जाना चाहिए। वैसे प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में अलग-अलग मन्त्र, यन्त्र और देवी-देवता हैं। बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी मंत्रों की साधना की जाती है। बौद्धों की तान्त्रिक प्रणाली जोकि वज्रयान में विकसित हुई है, वही हिन्दू तन्त्रों की आधारशिला है।

3

तान्त्रिक साधना के तत्व

तन्त्र में मंत्र, यंत्र, योग, कुण्डलिनी, षट्कर्म, पञ्चमकार, अधिकार भेदभाव, गुरु-शिष्यवाद, सिद्धियाँ, रसायन, न्यास, मण्डल, चक्र आदि तत्वों पर विचार किया जाता है। इसका उद्देश्य इन तत्वों का मात्र समझना नहीं, वरन् गुरु के निर्देशन में या स्वतः इनकी साधना करना है। तान्त्रिक दृष्टि बौद्धिक और आध्यात्मिक की अपेक्षा व्यावहारिक है। तान्त्रिक साधनाएँ जागतिक, जीवनोन्मुखी समस्याओं के निराकरण के लिये की जाती हैं। स्वर्ग-नरक, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य या ब्रह्मानुभूति संबंधी साधन-मार्ग इसमें खोजने पर निराश ही होना पड़ेगा। तन्त्र की इस व्यवहारोपयोगी दृष्टि ने शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर्य व जन-जातीय धार्मिक आचारों को अलग-अलग संप्रदायों में विभक्त रहने के स्थान पर सभी को एक ही धर्म-हिन्दू धर्म के अंतर्गत ला दिया। आज का हिन्दू किसी भी संप्रदाय के मंदिर में जाकर भक्ति, उपासना व साधना कर सकता है या सभी के मंदिरों में समान रूप से दर्शन कर प्रार्थना करता है। हिन्दू धर्म की उदारता व व्यापकता का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण यह है कि वे इस्लाम के पीर, पैगंबर, मकबरे व ताजियों के सामने भी भक्तिभाव से खड़े रहकर मन्नत मानते हैं और दुआएं पूरी हो जाने पर भेंट-पूजा चढ़ाते हैं और फिर भी हिन्दू बने रहते हैं। ऐसे व्यवहार की पृष्ठभूमि की पूर्ति व बीमारियों को दूर करने के लिये शक्ति की आराधना करना स्वाभाविक है। देव, देवी, सिद्ध, गुरु, तीर्थंकर आदि सभी शक्ति के अभिव्यक्त उपकारी स्वरूप हैं। इसी कारण शाक्त संप्रदाय ही नहीं, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, जैन व बौद्ध धर्मों ने भी किसी न किसी प्रकार शक्ति के अस्तित्व और उसके महत्व को स्वीकार किया है।

तन्त्रों के संबंध में यह प्रचलित मान्यता है कि ये केवल शक्ति के विभिन्न रूपों की आराधना तक सीमित हैं। लेकिन वास्तविक बात यह है कि कोई सा भी संप्रदाय या धर्म शक्ति की मान्यता के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह बात अलग है कि सभी के उपास्य देव या देवी, उनके मंत्र, मंत्रों की भाषा, गुरु की कल्पना आदि भिन्न हो सकते हैं। लेकिन इस भिन्नता में भी साधना के फलस्वरूप किसी न किसी अभाव या कष्ट को दूर करने की याचना बनी रहती है। दुर्गा–सप्तशती (गी.गो.पृ.30) (मार्कण्डेय पुराण) के अर्गलास्तोत्र में काली, भद्रकाली, कपालिनी, दुर्गा, चामुण्डा आदि देवियों से भक्त रूप, यश, विजय, सुख, सौभाग्य, आरोग्य, मनोरमा–पत्नी आदि यथेच्छित फलों का वरदान मांगता है। इसकी प्राप्ति के लिये सभी नियत साधनों को अपनाता है।

किसी भी उपास्य की आराधना में मन्त्र और जप का अत्यंत महत्व है। भिन्न–भिन्न देवताओं के मन्त्र अलग–अलग होते हैं और उनके पुरश्चरण की विधियाँ भी अलग–अलग होती हैं। यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि देवियों के अवतारों की शक्तिपीठें देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं। जिस देवी की इष्ट–साधना करना हो, उसके शक्तिपीठ में सफलता के अधिक योग रहते हैं; क्योंकि वे शक्ति के केन्द्र रहते हैं, जहाँ हजारों साधकों ने तपस्या की है। देवी की निराकार साधना नहीं होती। अत: या तो शक्ति–स्थल पर जाकर साधना की जानी चाहिये या जहाँ साधना करना हो (जहाँ तक संभव हो किसी नदी के किनारे) वहीं पर गुरु के आदेशानुसार मूर्ति स्थापना करना लाभप्रद है। मन्त्र और जप उसी देवी–देवता को संबोधित होते हैं।

मन्त्र का अर्थ

मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति मन्+त्र से हुई है जिसका अर्थ है सोचना या विचारना जो सोचने वाले की रक्षा करता है। ज़ब मन किसी देव या देवी पर केन्द्रित होता है तब मन उसी उपास्य का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रारंभ में इष्ट की मूर्ति पर मन्त्र की पुनरावृत्ति करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। मन्त्र अक्षर, वर्ण, शब्द या शब्दों का समूह होता है, जो कभी

अर्थपूर्ण होते हैं या कभी-कभी साधारण भाषा में अर्थहीन, जैसे "ओम", "ओम नमः शिवाय" और क्रीं क्रीं क्रीं स्वाहा (वांछापूर्ति के लिये)। अंतिम मन्त्र काली का मन्त्र है जो साधारण व्यक्ति के लिये केवल अर्थहीन शब्दों का समूह है जबकि साधक के लिये प्रत्येक बीजाक्षर अर्थपूर्ण है। बीजाक्षरों का महत्व गुरु ही बता सकता है जो मन्त्र की दीक्षा देता है।

मन्त्रों की काया बहुधा छोटी होती है। कभी 2-3 बीजाक्षरों या अक्षरों के ही मन्त्र होते हैं। मन्त्र के संक्षिप्त होने के कारण जप और पुरश्चरण में सुविधा होती है। मन्त्र का जानना प्रमुख नहीं है, क्योंकि मन्त्र सिद्धि के बिना कोई भी वांछित कार्य नहीं हो सकता। और, मन्त्र की सिद्धि के लिये गुरु के द्वारा बताई गई संख्या में, जोकि लाख-दस लाख तक जाती है, पुरश्चरण करना पड़ता है। और, केवल पुरश्चरण से ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती, उसके पूर्व और उसके बाद पूजा की एक विधि होती है जिसे संपन्न करना अनिवार्य है। क्योंकि कार्य सिद्धि के लिये जब किसी देव या देवी की प्रतिष्ठा की जाती है या उसका आह्वान किया जाता है तब उसके अनुकूल उनकी पूजा और विसर्जन भी होना चाहिये। तन्त्र-शास्त्र में शरीर विश्व का सूक्ष्म रूप है, अतः देवगण भी शरीर के विभिन्न भागों में निवास करते हैं। अतः सर्वप्रथम शरीरस्थ सभी देवताओं की अभ्यर्थना करके उपास्य देव की गन्ध-पुष्प से अर्चना की जाती है। इन विधियों में से दशमहाविद्याओं में से प्रथम (दक्षिण) काली के मंत्र को सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम "ऊँ क्रीं कालिकायै नमः" मन्त्र का उच्चारण करते हुए कालिका के चित्र या मूर्ति और काली-यन्त्र की विधिवत् पूजा करना चाहिये। इसके पश्चात् मन्त्र जप-विधान में विनियोग (अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये देवी से निवेदन) करके जल छोड़ना चाहिये। इसके बाद ऋष्यादि न्यास, कर न्यास, हृदयादि न्यास, काली का ध्यान, अपने जप में किसी प्रकार की बाधा न आये इसलिये कवच का पाठ करके देवी से स्तोत्र पाठ द्वारा क्षमा-याचना करें। इसके पश्चात् मन्त्र का जप प्रारंभ करना चाहिये। गुरु के निर्देशानुसार पुरश्चरण की संख्या तय होती है।

इस संबंध में कुछ बातें ध्यान रखने लायक हैं–

(अ) प्रत्येक देवी/देवता के मन्त्र सिद्धि में यन्त्र भी अनिवार्य हैं। यन्त्र रेखीय आकृति में अंक, अक्षर, बीजाक्षर व मन्त्रों को लिखा जाता है। इन यन्त्रों को "देवनगर" या "देवताओं के आवासगृह" कहते हैं। साधना के लिये मन्त्र के साथ यन्त्र की आवश्यकता रहती है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि यन्त्र की पूजा किये बिना देवता प्रसन्न नहीं होते।

(ब) मन्त्रों की साधना में संपूर्ण पूजा-विधि संम्कृत में दी हुई होती है। जो साधक संस्कृत ज्ञाता हैं, उनके लिये तो समस्या नहीं है, लेकिन जो इस भाषा से परिचित नहीं हैं, उन्हें किसी अधिकारी विद्वान् से पूजा-विधि संपन्न करवाना चाहिये।

(स) बिना गुरु से दीक्षा लिये किसी साधना में सफलता नहीं मिलती। मन्त्र भी गुरु से ही लिया जाता है।

मन्त्र और सिद्धि

पतंजलि के योग-सूत्र कैवल्यपाद (IV-1) के अनुसार सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये 5 साधन हैं : जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि। तन्त्रशास्त्र में मन्त्र को प्रमुखता दी है, और तप, समाधि व औषधि की महत्ता को स्वीकार किया है। पतंजलि यद्यपि सिद्धियों की चर्चा विभूति पाद में करते हैं, लेकिन विभूतिपाद के सूत्र 37 में "समाधावुपसर्गा" या समाधि प्राप्त करने में बाधाएँ हैं। वे केवल प्रारंभ में ही लाभप्रद हो सकती हैं। परंतु योगी को अपने परमोद्देश्य को प्राप्त करने में इन्हें विघ्न मानकर छोड़ देना चाहिये। लेकिन जैसा हम कह चुके हैं कि तन्त्र की दृष्टि योगशास्त्र से भिन्न है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तन्त्र में योग के साधनों को अस्वीकार किया गया है। इसके विपरीत तन्त्र भोग और योग दोनों के साधन प्रस्तुत करता है।

जब तक शरीर है तब तक संसार है, और जब तक संसार में जीवित रहना है तब तक अनेक प्रकार की समस्याएँ और कष्ट आते रहेंगे। कष्ट व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तरह के हैं। अपने व अपने परिवार के

शारीरिक कष्टों के लिये चिंतित हो जाना स्वाभाविक है। संसार में रहते कोई भी व्यक्ति अपना कर्तव्य मानता है कि ऐसे कष्टों को दूर करने का पूरा प्रयास किया जाना चाहिये। अपने ही देश से निकाल दिये जाने या अन्य देश के आक्रमण की स्थिति से आने वाले कष्टों के लिये व्यक्ति जिम्मेदार नहीं है। लेकिन सामाजिक व राजनैतिक कारण व्यक्ति व समाज के दु:खों का कारण बन जाते हैं। किसी भी कारण से हो, मनुष्य इन दु:खों से मुक्त रहना चाहता है। इनके सिवाय शास्त्रों में दैविक व आध्यात्मिक कष्टों को भी कारण माना है। अचानक बाढ़ आ जाना, ज्वालामुखी फट पड़ना, उल्कापात होना आदि दैविक ताप हैं। कई बार हमारा मन ही कष्टों का कारण बन जाता है। व्यवहार और मन में जब समन्वय नहीं होता तब मनुष्य अनेक मानसिक रोगों से पीड़ित होता है।

मानव-जीवन की सबसे बड़ी समस्या "दु:ख व दु:ख से मुक्ति" से भगवान् बुद्ध, सांख्याचार्य कपिल और तान्त्रिक साधक भी भली-भांति परिचित हैं। निर्वाण, मोक्ष या स्वर्ग प्राप्ति के पूर्व प्रत्येक सिद्ध, साधक या साधारण मनुष्य दु:ख से मुक्ति के लिये प्रत्येक प्रयास करता है। तन्त्र साधना में दु:ख से मुक्ति के साधन प्रस्तुत करते हुए रसायन के सेवन से शारीरिक व मानसिक पूर्णता प्राप्ति के साधन भी विकसित किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि तन्त्र की दृष्टि पारलौकिक होने के स्थान पर इहलौकिक है। इसी लोक में स्वस्थ, संपन्न एवं सुखी रहकर जीना ही उद्देश्य है। और जीना भी सार्थक उसी समय होता है जब हम दूसरों के लिये भी जियें। इसका अर्थ यह है कि यदि सिद्धियों के बल पर हम या तो स्वत: ही उनका दु:ख दूर कर दें या ऐसे साधन बता दें जिससे दु:ख से मुक्ति मिल सके। इसी तरह रसायन में सिद्धि प्राप्त करके रोगी को स्वस्थ होकर पूर्णता की ओर बढ़ने में सहायात दी जा सकती है।

तन्त्र में वैश्विक कल्याण के लिये भी व्यक्तिगत व सामूहिक साधना से सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग बताया है जैसे सामूहिक कल्याण, विश्व की रक्षा, विश्व का अभ्युदय, विश्व-व्यापी आपत्तियों के नाश, महामारी, विनाश आदि। इनके लिये अलग-अलग साधना और मन्त्र दिये गये हैं। तन्त्र में देवी के विभिन्न रूपों की साधना के साथ भैरव, शिव, विष्णु

आदि पुरुष देवों की साधना से भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। देवी के सौम्य व रौद्र रूप भी हैं। रौद्र रूपा देवियों से भयंकर कार्यों में सफलतां के लिये प्रार्थना की जाती है। युद्ध में विजय, दुश्मनों का नाश, किले पर आक्रमण में सफलता आदि के लिये दुर्गा, काली, चामुण्डा, चण्डी आदि देवियों की साधाना ही उपयुक्त है। विद्या, बुद्धि, सौंदर्य, आदि के लिये सरस्वती की उपासना की जाती है। फसल अच्छी आने के लिये शाकम्भरी और सर्प विष उतारने के लिये मनसा देवी की ही पूजा-भक्ति अनिवार्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों के लिये भिन्न-भिन्न देवियों से ही सिद्धि की याचना करना अधिक उपयुक्त है। जैसे शरीर के विभिन्न रोगों के लिये अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं, इसी तरह देवियों के भी विशेष कार्य होते हैं, और जिस तरह एक डाक्टर अपने क्षेत्र का विशेषज्ञ होने पर अन्य रोगों का साधारण इलाज कर सकता है, वैसे ही किसी भी देवी की उपासना किसी भी आपत्ति में व्यर्थ नहीं जाती।

उपर्युक्त विवरण से तन्त्र व मन्त्र संबंधी अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं जिनका उत्तर केवल मन्त्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही खोजा जा सकता है।

(अ) तान्त्रिक साधना का लक्ष्य भुक्ति और मुक्ति (भोग और योग) प्राप्त करना है। परम देवता या ईश्वर भुक्ति मुक्ति प्रदाता है। भुक्ति इहलौकिक जीवन की सफलता है। स्वास्थ्य, संपन्नता और सुख की प्राप्ति जब महासुख में परिवर्तित हो जाती है, वही निर्वाण की स्थिति है। मुक्ति या निर्वाण मरणोत्तर जीवन की कल्पना नहीं है, इसी जीवन की सार्थकता का नाम "महासुख" "अद्वय स्थिति", "शून्य" व "मोक्ष" है। तन्त्र जीवन-मुक्ति का उपदेशक है न कि विदेहमुक्ति का। महासुख या निर्वाण प्राप्ति के बाद बुद्ध अपनी करुणा से अन्य साधकों का मार्ग प्रशस्त करते रहे थे। हिन्दू तन्त्रों में शिव, शक्ति या विष्णु व्यक्ति नहीं, समष्टि के आत्म रूप अस्तित्व हैं। इस कारण बुद्ध या शिव को शारीरिक मृत्यु से आपन्न मानना उचित नहीं है। वे करुणा व कल्याण (शिव) रूप में नित्य हैं और प्रार्थना करने पर साधक के लिये गुरु रूप में अवतरित होते हैं।

(ब) तन्त्र में भुक्ति या भोग का अर्थ समझ लेना चाहिये। इसके दो पक्ष हैं : "दुःख का अंत करना" (सांसारिक अभाव को दूर करना) तथा "सुख प्राप्त करना"। शारीरिक रोग के दूर होने से सामान्य स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती, और सामान्य स्वास्थ्य प्राप्त हो जाये तो शक्ति संपन्न पहलवान नहीं होता। पहलवान बनने के लिये सर्वप्रथम निरोग होना अनिवार्य है। तदनन्तर सामान्य स्वास्थ्य और शक्ति-संपन्न होने के स्तर प्राप्त होंगे। तीनों सोपानों पर गुरु रूप में डाक्टर का परामर्श और स्वतः की साधना आवश्यक है। "दुख का अन्त करने के उदाहरण हैं : रोग नाश, विषहरण, विपत्ति नाश, महामारी नाश, उदर रोग निवारण, चेचक शान्ति आदि। अभाव को दूर करने के उदाहरण, सुलक्षणा पत्नी की प्राप्ति, कामनाओं की पूर्ति जैसे लक्ष्मी प्राप्त करना, शत्रु संहार, पति-वशीकरण, विवाह करना, नौकरी प्राप्त करना, पुत्र-प्राप्ति आदि। सुख प्राप्त करने : जैसे सर्वकल्याण, शक्ति प्राप्ति, स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति, विश्व के अभ्युदय, विश्व की रक्षा, शिव सायुज्य प्राप्त करना आदि। जीवन में नाना प्रकार के दुःख, असंख्य कामनाएँ और महासुख की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा व उपाय या करुणा से निष्काम कामनाओं का उदय होता है। वांछित फल की प्राप्ति में आचरण की पवित्रता, मन्त्र-दीक्षा, पुरश्चरण, यन्त्र और उपदेशानुसार साधनाओं को देव या देव (विशेष) के प्रीत्यर्थ संपन्न की जाती है। प्रत्येक दुःख, अभाव या कामना के लिये विशेष देवी, मन्त्र, यन्त्र, पुरश्चरण व आचरण संहिता का पालन करना पड़ता है।

(स) मन्त्र-सिद्धि के लिये साधक को स्वतः तन्त्र-अनुशासन का पालन करना चाहिये, लेकिन रोग, शोक, अभाव आदि से मुक्ति के लिये रोगी या दुःखी का प्रतिनिधित्व गुरु या तान्त्रिक कर सकता है जिसके लिये यजमान को देवी के सम्मुख संकल्प छोड़ना पड़ता है। अर्थात् तान्त्रिक के माध्यम से यथेच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है।

(द) मन्त्र में शक्ति का आविर्भाव

"मातृका भेद तन्त्र", दशम पटल में देवी भगवती महेश्वर से एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछती हैं। प्रश्न यह है कि गुरु नराकृति अर्थात् मनुष्य रूप, मन्त्र वर्णात्मक रूप अक्षर मात्र है और देवता भी साधक के ध्यान की अभिरुचि के अनुरूप मूर्तिमान होते हैं, ऐसी अवस्था में साधक के मन्त्रोच्चार मात्र से सिद्धि का लाभ और जीवात्मा-परमात्मा का एकत्व कैसे प्राप्त हो सकता है?[1] इस प्रश्न में गुरु, मन्त्र और देवी/देवता के आनुभविक भूमि पर होने के कारण उनमें अलौकिक और अप्रत्यक्ष फल प्रदान करने की शक्ति कैसे आ जाती है? गुरु के मानव रूप, मन्त्र के वर्ण अन्य वर्णों जैसे बोले व सुने जा सकते हैं और देवता साधक के अनुरूप उपस्थित होते हैं। सभी तो लौकिक और आनुभविक स्तर पर हैं।

तन्त्र साहित्य (बौद्ध हो या हिन्दू) प्रत्येक ग्रंथ ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। गुरु शारीरिक रूप से साधक के समान है, लेकिन वह शिव-रूप, शिव सम या शक्ति-रूप होता है उसमें चिद्शक्ति का अधिक प्रकाश है। उसके संकल्प-मात्र से सिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र देवी के आह्वान का भाषिक माध्यम है। अलग-अलग देवी या देवता के आह्वान के भिन्न-भिन्न मंत्र हैं, अतः ध्यानानुरूप देवी ही मूर्तिमान होगी। जब मन्त्र जाप या पुरश्चरण होता है तब गुरु (साधक), मन्त्र और देवी का अद्वैत स्थापित होता है। इस अद्वैत स्थिति में वांछित फल की प्राप्ति होती है। फल प्रदाता कौन है? का उत्तर होगा, 'देवी', क्योंकि देवी में वरदान देने की क्षमता है। लेकिन वरदान को मूर्त करने की शक्ति गुरु में रहती है। और चूँकि गुरु बिना मन्त्र के देवी का आह्वान कर नहीं सकता, अतः मन्त्र ही देवी-रूप होकर गुरु के माध्यम से फल को यथार्थ में अवतरित कर देता है। इस तरह से जब मन्त्र के ध्यान से गुरु या साधक को देवी साक्षात् होती है तब तीनों में अद्वैत रहता है, अर्थात् "बैखरी" (या यथार्थ)

1. नराकृतिं गुरु नाथ मंत्र वर्णात्मकं तथा।
ध्यानानुरूपिणं देवमेकेत्वं वाकथं भवेत्।

में गुरु, मन्त्र और देवी का अस्तित्व अलग-अलग है, लेकिन ध्यानस्थ या शब्द-गत स्थिति में मध्यमा में तीनों में एकत्व की अनुभूति होती है। यही स्थिति साधक की सफलता की कार्य-सिद्धि की भूमि है।

उपर्युक्त विवेचन में मन्त्र-साधना के तीन अवयवों-गुरु, मन्त्र और देवी के स्वरूपों की चर्चा की है। यह कहा जा चुका है कि तन्त्र में गुरु शिव-सम या मानव-रूप में साक्षात् शिव का अस्तित्व है। साधारण मनुष्य ही साधना से गुरु-पद तक पहुँचता है। गुरु-पद का लक्षण यह है कि उसमें दिव्य गुणों का आविर्भाव होता है, और चूँकि उसका मूर्त जागतिक अस्तित्व होता है, इसलिये अपनी दिव्य-शक्तियों से प्राप्त ऐश्वर्य के कारण वह मनोवांछित कार्य संपन्न करने में सफल हो सकता है। साधारण मनुष्य और गुरु (या सिद्ध) में यही अंतर है। फलप्रदान करने में गुरु को दैवी (शक्ति) कृपा की आकांक्षा रहती है। गुरु बिना दैवी-कृपा के फलदाता नहीं होता। देवी केवल वरदान देती है, फल-प्रदाय का कार्य गुरु करता है। कारण यह है कि देवी का अस्तित्व शारीरिक नहीं है, और शारीरिक या जागतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये सशरीर गुरु ही शक्ति-संपन्न होता है।

योगेन्द्र विज्ञानी जोकि स्वतः एक सिद्ध योगी हैं, का कथन बड़ा ही सटीक है : "तुम मनुष्य ही अपने गुण-कर्म से देव, सिद्ध और अवतार हो सकते हो। तुम में जब शास्त्र कथित दिव्य गुणों का आविर्भाव होगा, तब इसी शरीर से देव कहलाओगे और दिव्य गुण का फल दैवी-शक्ति का विकास रूप ऐश्वर्य अनुभव करने से सिद्ध होगा। जब तुम मनुष्य ही देव और सिद्ध संज्ञा में पहुंचोगे तब तुम्हारे में अलौकिक अदभुत सामर्थ्य आ जायेगा एवं इस सृष्टि में वैषम्य घटाने की शक्ति हो जायेगी... यदि जगत् में कोई महान कार्य करने की तुम्हारी प्रबल वासना होगी (जैसे अधर्म का उच्छेद करके धर्म की स्थापना करना, दुष्टों का दलन करना और साधुओं का परित्राण करना, आवश्यकता होने पर समाज व राज्य का नेतृत्व करना आदि) तब तुम ईश्वर का अवतार कहलाओगे।"[1]

1. महायोग विज्ञान, विज्ञान भवन, ऋषिकेश, 1978, पृ. 13.

उपर्युक्त उद्धरण से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं : (अ) मनुष्य देह से गुरुपद, देवपद और अवतार पद प्राप्त हो सकते हैं। तीनों में दिव्य-गुणों का आविर्भाव इसी सांसारिक शरीर में होता है। इनमें गुरुपद में देव-कृपा या देव के ऐश्वर्यों की अनुभूति से वांछित फल प्राप्त करने या कराने की शक्ति आ जाती है। अवतार में जागतिक कल्याण की वासना जागने पर दिव्य रूप में भी सांसारिक कार्यों का संपादन करना पड़ता है, जैसे कृष्ण के लीला कार्य, राम के विश्वामित्र के साथ मारीच व सुबाहु को मारने व रावण से युद्ध करने के कार्य। बिना शारीरिक अस्तित्व के अवतार की कल्पना नहीं हो सकती। (ब) तीनों का कार्य-क्षेत्र इहलोक के निवासियों का कुशल-क्षेम है। (स) गुरु व अवतार संसार के मूर्त और शारीरिक अस्तित्व होते हैं, मूर्ति पदार्थ (सोना, चांदी, तांबा, पत्थर, लकड़ी, मिट्टी) से निर्मित होती है, जिसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद उपासक उसे चिन्मय अस्तित्व मानता है। जब मन्त्र से देवी का आह्वान किया जाता है तब उपासक, साधक या गुरु के दिव्य-गुण और देवी के दिव्यत्व में ऐक्यता स्थापित हो जाती है। यही वह स्थिति है जिसमें गुरु फल-प्रदाता बन जाता है।

दिव्य भावापन्न गुरु देवी-देवता, अवतार और ईश्वर का जागतिक प्रतिनिधि है। संसार के कार्यों में सफलता के लिये देवी/देवता या ईश्वर का वरदान गुरु के माध्यम से ही कार्यान्वित होता है। लेकिन देवी-देवता व ईश्वर की सत्ता हमेशा परोक्ष रहती है। साधना में मन्त्र-जाप के कारण देवी का मानसी-प्रत्यक्ष केवल गुरु को होता है। जिस किसी देवी का ध्यान करेंगे उसी की अपरोक्षानुभूति होगी। शाक्त मत और तन्त्र में अनेक देवियों की कल्पना की गई है। लेकिन ये सब परम शक्ति (परापराणां परमात्वमेव परमेश्वरी, सप्तशती-1/82) के ही विभिन्न रूप या अवतार हैं जो भक्त और साधक के कष्टों को दूर के वांछित रूप की ही अनुभूति होती है क्योंकि उसी का मन्त्र का जाप किया गया है। सरल शब्दों में काली के मन्त्र से काली की ही अनुभूति होगी।

ऐसी अनुभूति के दो आधार हैं, (1) साधक का विश्वासी मन (2) देवी की मूर्तियाँ जो अनेक स्थानों पर स्थापित हैं तथा अनेक ग्रंथों में उनके चरित्रों व उनमें वरदान देने व कार्य-सिद्धि कर देने की अलौकिक क्षमता का बखान होता है। जब साधक मन्त्र-जाप प्रारंभ करता है तब उसके सामने देवी-विशेष की मूर्ति होती है और उसके मन में देवी-चरित्र की स्मृतियाँ। सर्वप्रथम, दर्शन से चाक्षुस प्रत्यक्ष होता है, लेकिन जाप गहरा होने पर यह प्रत्यक्ष निराकार होने लगता है और केवल शक्ति-पुंज रह जाता है, इसी तरह मन्त्र का बैखरी रूप भी शब्द-शक्ति रह जाता है, जिसमें शब्द के वाच्य (अर्थ) को प्रस्तुत कर देने की शक्ति होती है। यह स्थिति साधक, मन्त्र और देवी की ऐक्यता की भूमि है। इस चर्चा से स्पष्ट होता है कि बैखरी के मन्त्र-रूप में वर्ण, प्रत्यक्ष देवीमूर्ति और जपकर्ता के धार्मिक व विश्वासी मन के कारण ही देवी की अपरोक्षानुभूति होती है। दूसरे शब्दों में ऐसी अनुभूति आत्मशक्ति की मात्र मानसी अभिव्यक्ति है।

वाक्भूमि और मन्त्र

श्री गोपीनाथ कविराज ने वाक्भूमियों के आधार पर मन्त्र की व्याख्या की है। उनका मत है कि "मध्यमा-भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है, क्योंकि मन्त्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करती है। मन का शोधन और उसके फलस्वरूप विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्य लाभ क्रमशः इसी स्थान से होता है।"[1] इस महत्वपूर्ण विचार को समझने के लिये वाक्भूमियों की चर्चा करना आवश्यक है। वाक् की चार भूमियाँ हैं : बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। बैखरी में कण्ठ प्रसूत शब्द होते हैं जिनके आधार पर जागतिक व्यवहार चलते हैं। शब्द और अर्थ की हमेशा युति रहती है। शब्द किसी वस्तु, भाव या कर्म का वाचक है। दैनिक व्यवहार में वस्तु की अनुपस्थिति में भी शब्दों से व्यापार चलता है। हिमालय हमेशा हमारे लिये प्रत्यक्ष नहीं है, या जिसे हमने कभी देखा भी नहीं हो, फिर भी उसके संदर्भ में दैनिक व्यवहार चलता है। दैनिक

1. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथमखंड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1977, पृ. 331.

व्यवहार की आवश्यक शर्त यह रहती है कि उस वस्तु का जगत् में कहीं न कहीं अस्तित्व हो जिसका प्रत्यक्ष किसी के लिये भी संभव हो।

लेकिन शब्दों के संबंध में यह दृष्टि यथार्थवादी है। यह तो सर्व स्वीकृत सिद्धांत है कि शब्द का अर्थ होना चाहिये और निरर्थक शब्दों का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। फिर भी असंख्य ऐसे शब्द हैं जिनके कोई वाच्य नहीं होते (आनुभाविक स्तर पर), लेकिन धर्म, साहित्य व संस्कृति के शब्द ऐसे हैं जिनके आधार पर अनेकानेक ग्रंथ लिखे गये हैं, और जिनमें लोग विश्वास करते हैं। जीवन का बहुत सारा भाग इन्हीं विश्वासों को जीवन के केन्द्र में रखकर जीवन बिता देते हैं। लेकिन ये कोई भी तत्व कमल या कमल की तरह न तो वस्तु रूप हैं, न ही इन्द्रिय-गोचर हैं। इनका अवधारणात्मक अस्तित्व है। तर्कमूलक भाववाद (लॉजिकल पॉजिटिविज्म) की भाषा में ये भावात्मक भाषा के शब्द हैं जिनके वाच्यों का अस्तित्व अनुभव से सिद्ध नहीं होता। देवी-देवता के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। ये शब्द विश्वास के अस्तित्वों के वाचक हैं। पाषाण मूर्ति को चिन्मय मानना विश्वास आधारित है।

देवी अस्तित्व में कर्तृत्व, भोक्तृत्व व वरदा शक्ति माना जाता है, लेकिन पाषाण-मूर्ति में यह नहीं होता। अतः ऐसे चिन्मय रूप की धारणा करनी पड़ती है जिसमें ये शक्तियाँ हों। अतः साधक मूर्ति के चाक्षुस् प्रत्यक्ष से ध्यान की ओर बढ़ता है। ध्यान में ध्याता का चित्त और ध्येय के प्रतिबिंब का द्वैत रहता है। यह भूमि मानसी प्रत्यक्ष की है। प्रथम भूमि पर मन्त्र बोलकर मूर्ति का प्रत्यक्ष कर आह्वान किया जाता है। द्वितीय भूमि पर मन्त्र मन में बोला जाता है, और चित्त पर प्रतिबिंब होता है। इसका अर्थ है कि साधक मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ रहा है, लेकिन अभी इस अमूर्तता में भी मानसी मूर्तता है। ये दोनों भूमियाँ बैखरी की भूमियाँ हैं।

लेकिन अभी भी है द्वैत की भूमि। साधना में जब साधक की ऊर्ध्व गति होती है तब वह अनेकता से द्वैत से होता हुआ अद्वैत में पहुँचने का प्रयास करता है। इसके विपरीत संसार में वह एक से अनेक की ओर सहज भाव से जाता है, और यही चित्त का स्वभाव है। साधक का चित्त

प्रयास से ऊर्ध्वगति होता है, और गहन अभ्यास से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, और जब उसका चित्त चिद्रूप से प्रकाशित नहीं होता और चित्त व मूर्ति का विलय नहीं होता तब तक न तो अद्वैत भूमि की प्राप्ति होती है, न ही शांति मिलती है।

अतः चित्त बैखरी के स्थूल चाक्षुस् प्रत्यक्ष से सूक्ष्म मानसी प्रत्यक्ष की ओर बढ़ता है। ध्याता की यह भूमि बैखरी की सीमा लांघकर मध्यमा भूमि में प्रवेश करती है। इस भूमि पर चित्त में चिद्रश्मि का आविर्भाव होता है, अर्थात् कुछ अंशों में चित्त चिद्रूप हो जाता है और मूर्ति केवल आकार-मात्र रह जाती है जिसमें कि दैवी-शक्ति का आविर्भाव हो जाता है, अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व और वरदा शक्ति आती है। साधक का चित्त चिद्रश्मि से प्रकाशित होने पर कर्तृत्व और वरदा शक्ति से संपन्न हो जाता है। चिद्रश्मि की ये शक्तियां साधक के चित्त (जोकि अब काफी मात्रा में शुद्ध हो चुका है) के माध्यम से ही कार्य करती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस भूमि को प्राप्त करने पर स्वतः साधक या उसके यजमान की मनोकामना पूरी हो जाती है जिसका मन्त्रोच्चार व ध्यान में जाने के पूर्व ही निवेदन कर दिया जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि साधक जब सांसारिक बैखरी भूमि से ऊपर उठ जाता है तब वह पुनः अपने या भक्त के सांसारिक कार्य पूर्ण करने के लिये क्यों निम्न बैखरी भूमि पर उतरता है। इसका उत्तर यह है कि साधक में सांसारिक-कल्याण की वासना वर्तमान रहती है (इसे गीता की भाषा में सात्विक वासना कह सकते हैं)। साधना की दृष्टि से उत्तर यह है कि साधना में कुंडलिनी जागरण होने लगता है और चित्त (मन) ऊर्ध्वगामी हो जाता है। वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्रों को पार करता हुआ सहस्रार में जब जीव-ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा या शक्ति-शिव का सामरस्य स्थापित हो जाता है, तब साधना समाप्त होकर साधक सिद्ध हो जाता है। कुंडलिनी मूलाधार में सोई हुई रहती है और जब साधक का मन ऊर्ध्वगामी होता है, तब प्रत्यक्ष जगत् के पाश (वासना, भाषा, स्मृति, द्वैत भाव) छूटते जाते हैं। वाक्‌भूमि की दृष्टि से बैखरी वाक् से साधक मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाक् में पहुंच जाता है। परा वाक् से बैखरी

तक अक्षर ब्रह्म का प्रकाश रहता है, लेकिन बैखरी में वह प्रच्छन्न है और मध्यमा में चिद् रश्मि की अनुभूति होने लगती है।

मध्यमा भूमि पर अनुभूति के ऊर्ध्वगामी होने पर मन्त्र के वर्ण केवल नाद रूप और देवी की मूर्ति केवल मात्र आकार रह जाते हैं। इस स्तर पर साधक को कर्त्तव्य का वरदान मिल जाता है। यह अनाहत चक्र का क्षेत्र है, जिसमें दिव्य शब्द की अनुभूति होती है। लेकिन मध्यमा वाक् का क्षेत्र मूलाधार से मणिपूर चक्र तक रहता है। अतः साधक का मन अधःगामी होकर बैखरी भूमि पर मन्त्र जपने वाले यजमान साधक को मनोवांछित फल प्राप्त कराता है। यह संसार का क्षेत्र है जिसमें गुदा (मूलाधार), लिंग (स्वाधिष्ठान) और नाभि (मणिपूर) ही कार्यक्षम होते हैं जिनका संबंध भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु, शरीर व चित्त से रहा करता है। इनसे उत्पन्न होने वाले कष्टों व जीवन की प्रगति में आने वाली बाधाओं को दूर करने की शक्ति उस साधक में आ जाती है जोकि मध्यमा भूमि पर रहकर पश्यन्ती की अनुभूमि प्राप्त कर बैखरी भूमि पर लौट आता है।

इस भूमि पर साधक स्व-उपकार व पर-उपकार कर सकता है। लेकिन मुक्तिकामी साधक के लिये ये सिद्धियाँ विघ्न हैं जबकि व्युत्थान में सिद्धियाँ। पातंजल सूत्र विभूति पाद, 37-"ते समाधानुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" का यही संकेत है। सिद्धियों में अटक जाने पर परम-तत्व की अनुभूमि में बाधा आती ही है, लेकिन कई बार साधक सिद्धियों के फेर में भ्रष्ट हो जाता है और अपना इहलोक व परलोक दोनों बिगाड़ लेता है।

4

यन्त्र, मंडल और चक्र का महत्व

यन्त्र के साधारण अर्थ होते हैं, "नियंत्रण में करना" (यन्त्रयते नियम्यते इति यन्त्रम्), रोकना, उपकरण, मशीन, वाद्य आदि। तन्त्र में यद्यपि इस शब्द का विशिष्ट अर्थ होता है, लेकिन वह अर्थ भी कोशगत-अर्थ के आसपास ही घूमता है। तन्त्र में यन्त्र किसी देव का प्रतीक है जोकि रेखागणितीय आकृति के रूप में होता है और जिससे दैवीय विशेषताओं की अभिव्यक्ति होती है। यन्त्र-ज्ञाता (साधक) ही इन विशेषताओं को जान सकता है। फल-प्राप्ति के लिये जब यान्त्रिक किसी फलाकांक्षी को अभिमन्त्रित करके यन्त्र देता है तब वह विश्वास करके ही उस यन्त्र का धारण करता है।

यन्त्र को देव का घर [1] या शरीर भी कहते हैं। यही नहीं, यन्त्र स्वतः ही देव है। [2] रक्षा के लिये (यन्त्रं सन्त्रायते त्रातं) जो ताबीज या जन्त्र धारण किया जाता है वह भी यन्त्र है। जब यन्त्र देव-शरीर कहलाता है तब इसे मानव-शरीर का सूक्ष्म रूप भी कहा जा सकता है। यन्त्रों को कागज, भोज या अन्य वृक्ष के पत्ते जैसे पीपल या कपड़ों पर बनाया जाता है या पत्थर और धातुओं पर खोदा जाता है। यन्त्र की तन्त्र ग्रंथों के अनुसार विधिवत् पूजा की जाती है, उसके बाद ही देव का आह्वान किया जाता है या शरीर पर धारण किया जाता है।

यन्त्र का निर्माण भी शास्त्र विधि के अनुसार होना चाहिये। यन्त्र अनेक प्रकार के हैं। जैसे भिन्न-भिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिये भिन्न

1. यन्त्रं देवानां गृहम्
2. यन्त्र राजाय विद्महे करप्रदाय धीमहि तन्नो यन्त्रं प्रचोदयात्-यन्त्र गायत्री

यन्त्र, भिन्न देवता या देवी और भिन्न-भिन्न मन्त्र होते हैं। एक ही मन्त्र या यन्त्र से सर्वकार्यसिद्धि नहीं हो सकती। अतः आवश्यकतानुसार साधक इनका चुनाव करता है और इन्हें सिद्ध करता है। एक बार सिद्ध होने पर वह लोक-कल्याण के लिये भी उनका उपयोग कर सकता है। यन्त्र निर्माण में वार, तिथि, स्याही, कलम, जप और उनके उपयोग में भी भिन्नता है। एक उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इसे विस्तार सहित "पञ्चदशी यन्त्र महाकल्प" नामक हस्तलिखित ग्रंथ में (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के ग्रंथालय में उपलब्ध है) दिया है–

मारण प्रयोग
पञ्चदशी यन्त्र

8	1	6
3	5	7
4	9	2

दिन – रविवार
समय – रविवार सायंकाल
पत्र – आंकड़े के पत्ते पर
स्याही – आंकड़े के दूध में चिता की राख मिलाकर
कलम – बबूल वृक्ष या लोहे की लेखनी
यन्त्र – पञ्चदशी, 9 से लेकर 1 अंक तक का उपयोग, यन्त्र पर उसका नाम जिस पर प्रयोग किया जाना है।

जप के समाप्त होते ही यन्त्र को चिता में डाल देना। प्रभाव यह होगा कि जिस पर प्रयोग हो रहा है उसे सर्वप्रथम फोड़े निकलेंगे और बाद में उसकी मृत्यु हो जायेगी।[3]

उपर्युक्त उदाहरण मात्र उदाहरण ही है क्योंकि यन्त्र लेखन के पूर्व एक अलग से साधना-कक्ष होना चाहिये। इस कक्ष की स्वतः शुद्ध और पवित्र होकर लिपाई-पुताई करवाना आवश्यक है। साधना काल में वस्त्रों के रंग व माला के रंग व प्रकार का ध्यान रखना अनिवार्य है। जपने के लिये मन्त्र का चुनाव भी गुरु के निर्देशानुसार होना चाहिये। मन्त्र का लिखित पुरश्चरण कितनी बार करना है यह भी शास्त्रानुसार गुरु ही बता

---

1. यन्त्र शक्ति भाग 2, त्रिपाठी रुद्रदेव (रंजन पब्लिकेशसन, नई दिल्ली)

सकता है। अतः यह समझना भूल होगी कि मन्त्र-यन्त्र का साधन नितांत सरल है।

गुरु की अनिवार्यता का प्रश्न बार-बार इस कारण उठता है कि प्रत्येक धर्म व संप्रदाय के अलग-अलग गुरु, मन्त्र और यन्त्र होते हैं, और गुरुओं की भी अपनी-अपनी परंपराएँ होती हैं। गुरु पर अविश्वास से साधक की ही हानि होती है। यदि एक बार किसी का पल्ला पकड़ लिया है तो सफल होने तक उसे न छोड़ना ही उत्तम होता है। लेकिन असफल होने और गुरु की योग्यता पर अविश्वास होते ही परिवर्तन ही श्रेयस्कर होगा। इसी के साथ एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि संप्रदाय में एक ही फल की प्राप्ति के लिये गुरु-परंपरा के अनुसार मन्त्र, यन्त्र, पुश्चरण आदि बदल जाते हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न ग्रंथों के अनुयायी हो सकते हैं। जैसे "यन्त्र चिन्तामणि" और "पञ्चदशी यन्त्र कल्प" में उपर्युक्त मारण प्रयोग (पञ्चदशी यन्त्र कल्प) और शत्रु मारण यन्त्र (यन्त्र चिन्तामणि) में मन्त्र, यन्त्र और बीजाक्षरों का भेद है। यही नहीं, यन्त्र लेखन विधि, पूजा-विधि, बलि चढ़ाने और लेखन स्थान में भी भेद है।

गुरु या मार्गदर्शक की महत्ता को प्रकट करने वाली एक दो अन्य कठिनाइयाँ और हैं। जैसे पञ्चदशी यन्त्र (अंक लेखन) के लिखने के प्रकार सर्वप्रथम वर्णानुसार बदल जाते हैं क्योंकि जो यन्त्र ब्राह्मण के लिये साधन है वह क्षत्रिय के लिये नहीं। केन्द्र में 5 होना अनिवार्य है। लेकिन ऊपर से नीचे व बांये से दांये 1 से 9 तक के अंक के लिये निश्चित घर हैं। उनमें तनिक सा भी परिर्वतन करने से वही यन्त्र अशुभ हो जाता है तथा सिद्ध भी नहीं हो सकता। बिना गुरु के यह जानना कठिन है। ग्रंथों के अध्ययन से काम नहीं चल सकता। इसके लिये रुद्रदेव त्रिपाठी लिखित पुस्तक यन्त्र-शक्ति भाग-2 के अध्याय एक से तीन तक पृष्ठ 29 से 49 तक देखना उचित होगा।

यन्त्रों के प्रकार

अभी तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि अलग-अलग रोग, अभिलाषा, शोक आदि के लिये अलग-अलग मन्त्र, यन्त्र और

उनके निर्माण की विधि, देवी/देवता, साधन-पद्धति, गुरु-परंपरा व सिद्ध-स्थान भिन्न-भिन्न हैं। एक ही मन्त्र या यन्त्र से भी सभी अभिलाषाओं की संतुष्टि नहीं हो सकती। यह ध्यान में रखकर हमें यन्त्रों के प्रकार पर विचार कर लेना चाहिये। यन्त्र-निर्माण की निम्नलिखित विधियां हैं–

1. **रेखात्मक यन्त्र :** रेखाओं से बनने वाली आकृतियां गोल या सीधी रेखाओं से निर्मित विभिन्न आकृतियाँ हैं। त्रिकोण, चतुष्कोण जैसे आयत, मानव, पशु आदि की आकृतियाँ। इन आकृतियों में अंक, बीजमन्त्र, मन्त्रवर्ण तथा मिश्र-पद्धति का लेखन होता है।

2. **स्वामी-भृत्य विद्वेषण यन्त्र**[1] **:**

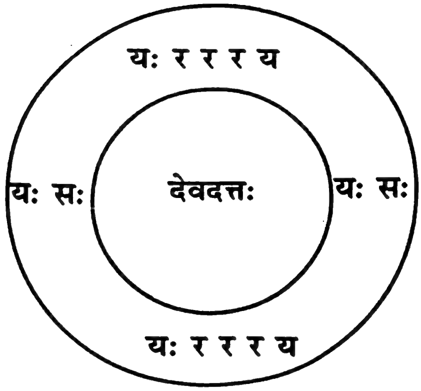

निर्माण : दो वर्तुलाकार आकृतियाँ, छोटे में साध्य का नाम प्रथम और द्वितीय वर्तुल के बीच में ऊपर व नीचे वर्ण य ररर य, दाएँ बांए यःसः इस गोल आकृति में मन्त्र वर्ण भी हैं।

विधिपूर्वक निर्माण करके उसकी यथाविधि पूजा करके स्वामी-सेवक के मार्ग पर भूमि खोद कर दबा देने से स्वामी-सेवक में प्रतिदिन विद्वेष होगा।

गोल आकृति में कई प्रकार के यन्त्र बनते हैं जो भिन्न-भिन्न सिद्धियों के लिये निर्मित किये जाते हैं। किसी यन्त्र की गोल आकृति में एक त्रिकोण होता है, किसी में एक-दूसरे से गुंथे हुए 2 त्रिकोण। कई गोलाकारों के आस पास कमल दल होते हैं। इसी तरह यन्त्र की आकृति में वर्ण, बीजाक्षर, बीजाक्षर-मन्त्र होते हैं।

---

1. यन्त्र चिन्तामणि, पृ. 79

सीधी रेखाओं से निर्मित किये जाने वाले यन्त्र त्रिकोण, आयत व चतुरस्त्र होते हैं, जिनमें कई त्रिकोण एक दूसरे से गुंथे हुए रहते हैं। उनमें बीज या वर्णों को भी भर देते हैं जैसे निम्नलिखित–

भावमोचन यन्त्र [1]

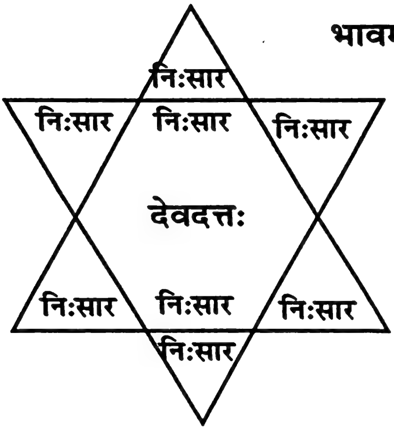

नाम के चारों तरफ "निःसार"

आयत व चतुरस्त्र यन्त्र भी सिद्धियों के भेद से अनेक तरह से बनते हैं। कुछ में केवल अंक, कुछ में अंक और वर्ण या बीजाक्षर–

पञ्चदशी यंत्र [2] **सर्वकार्य सिद्धि यंत्र**

सुन्दरि 8	ॐ 1	महा 6
ह्रीं 3	क्लीं 5	त्रिपुर 7
श्रीं 4	स्वाहा 9	ऐ 2

सर्वतोभद्र यन्त्रम् [3]

अ	आ	इ	ई
उ	ऊ	ऋ	ॠ
ऌ	ॡ	ए	ऐ
ओ	औ	अं	अः

भोज़ पत्र पर लिखना, सोलह कोष्ठ, अकारादि सोलह अक्षर, एक कोष्ठ में एक, कस्तूरी, लाल चंदन, हिम से लिखना। गंध, धूप, दीप से पूजन कर यन्त्रराज को ताबीज में रखकर पुरुष दाहिने हाथ व स्त्री गले में बांधे।

1. वही, पृ. 123.
2. यन्त्र शक्ति, त्रिपाठी, भाग-2, पृ. 45
3. यन्त्र चिन्तामणि, पृ. 119.

अलग-अलग कार्यों के लिये ये यन्त्र भी अलग-अलग तरह से बनते हैं। उपर्युक्त यन्त्र केवल उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं। जिज्ञासु को उत्तम-उत्तम ग्रंथों का अवलोकन कर आवश्यक रूप से गुरु या सिद्ध के मार्गदर्शन में ही यन्त्र-सिद्धि के लिये अग्रसर होना चाहिये।

मण्डल और चक्र

यन्त्र की तरह मण्डल व चक्र का भी तान्त्रिक साधना में महत्व है। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि तीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।[1] यन्त्र के समान ही मण्डल व चक्र के गोल या सीधी रेखा या मिश्रित आकार ही होते हैं। एक भेद देखा जाता है कि यन्त्रों की सिद्धि की जाती है। यन्त्र में रहस्यमय अंक, वर्ण या बीजाक्षर भी हो सकते हैं। मन्त्रों के साथ या केवल यन्त्रों का पुरश्चरण (निश्चित संख्या में लिखना) करना इस सोधना का भाग है। साथ ही आकारगत यन्त्रों के रूप सिद्धि विशेष के अनुसार बदल जाते हैं। यन्त्र या चक्र किसी विशेष देव या देवी को उपास्य मानकर किसी खास उद्देश्य के लिये निर्मित होते हैं। मण्डल का उपयोग सभी देवों की पूजा में होता है। असंख्य रूपों में यन्त्रों का लेखन होता है, क्योंकि मानव की मनोकामनाएँ भी अनगिनत हैं। अतः मन्त्र, यन्त्र, अंक, वर्ण, बीजाक्षर आदि का बदलना भी स्वाभाविक है।

मण्डल में यन्त्र की ही तरह देव का निवास है। यन्त्र की तरह मण्डल का यद्यपि आलेखन या आरेखन कागज, भूमि, भोजपत्र, कपड़ा, दीवार, पत्थर पर होता है, लेकिन उसका पुरश्चरण नहीं होता। यन्त्र की सिद्धि के लिये किसी देवमूर्ति या मंदिर का होना अनिवार्य नहीं है (हो तो अच्छा है), केवल यन्त्र लेखन, साधना स्थल और उसका परिवेश पवित्र होना चाहिये। मण्डल एक तरह से देवासन है जिस पर देव को आमंत्रित किया जाता है और प्रतीक रूप में उस पर कलश या दीपक रख दिया जाता है। इस तरह मण्डल साधन है जबकि यन्त्र स्वतः साध्य है। मण्डल का एक बहुप्रचलित रूप है। "सर्वतोभद्र मण्डल" जिस पर मध्य में घट स्थापना की जाती है। शारदा तिलक के अनुसार यह मण्डल सभी प्रकार की पूजा में समान है।

1. ज्ञानार्णव के अनुसार मण्डल व चक्र में कोई भेद नहीं है।

वाम-उपासना में मण्डल का अर्थ है जब उपासकगण अपनी-अपनी भैरवी के साथ चक्र (गोलाकार) में बैठकर केन्द्र में स्थापित अधीश्वर और उनकी शक्ति की आराधना पञ्चमकार के साधन से करते हैं। वामाचार में मण्डल और चक्र एकार्थक हैं। कुण्डलिनी योग में चक्र का अर्थ षट्चक्र होता है। कुण्डली मूलाधार में सोई हुई है। जागने पर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा चक्र से होती हुई सहस्रार में इस शक्ति का शिव से मिलन हो जाता है। साधना की यह सर्वोच्च भूमि है।

मण्डल के रूप

मण्डल देवी/देवता के वासस्थान हैं। इनकी आकृति में प्रतीक रूप में उनको यथास्थान बिठा दिया जाता है। मण्डल के अनेक आकार होते हैं जैसे भूलभुलैया की तरह, सुरक्षात्मक दीवारों से बना किला, ऊँचा भवन, बगीचा आदि। सजावट के लिये कमल का खिला हुआ पुष्प अवश्य बनाया जाता है।

मण्डल आकारगत रूप में विश्व का प्रतिबिम्ब है जिसमें देवता का निवास है। इसका एक अर्थ यह भी है कि देवताओं का आह्वान करने पर वे उस स्थान पर उपस्थित हो जाते हैं। इस स्थान पर आकाश व पृथ्वी का पाताल के देवता की उपस्थिति में मिलन हो जाता है। अतः मण्डल की भूमि पवित्रतम हो जाती है जैसे कि यज्ञ की देवी मानी जाती है। मण्डल मन्त्र की वेदी है। मण्डल वह भूमि है जिस पर आकाश-पाताल, स्वर्ग-नरक, देव-राक्षस, भूत-भविष्य सभी से संबंध स्थापित किया जा सकता है। लेकिन विशेषता यह है कि मण्डल चूँकि पवित्रतम भूमि है, अतः कोई भी अपवित्र विचार या दुष्ट आत्माएँ उसमें प्रवेश नहीं कर सकतीं। साधक चाहे तो उनसे संबंध स्थापित कर सकता है। पर साधारणतया साधक चाहेगा भी क्यों? क्योंकि उसका उद्देश्य उच्चतर भूमि पर आत्मा से मिलना है। एक बार यदि आत्मानुभूति हो जाती है तो विश्व के सभी देवी, देवता और सिद्धियाँ उसके समक्ष महत्वहीन हो जाते हैं।

इस तरह मण्डल निर्माण के कुछ लाभ हैं। जैसे–

(अ) एक बार दीक्षित हो जाने पर और मण्डल में प्रवेश के बाद मण्डल साधक की दुष्ट शक्तियों से रक्षा करता है, जिसके कारण उसकी साधना में स्वतः के तन और मन के या अन्य के दूषित विचारों के कारण कोई विघ्न खड़ा नहीं होता।

(ब) मण्डल विश्व का सूक्ष्म प्रतिरूप है, और साधक उसके केन्द्र में है, अतः मण्डल से ध्यानावस्थित होने में उसे मदद मिलती है। इस तरह वह परमानुभूति के समीप पहुँच जाता है।

(स) मण्डल चूँकि स्वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिये वहाँ किसी प्रकार के अभाव का प्रश्न नहीं उठता। इच्छा मात्र से किसी भी अभाव की पूर्ति हो जाती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे यों कहा जा सकता है कि मण्डल-साधना के समय की मनःस्थिति पूर्णरूप से तुष्ट रहती है। शांत मन से अविचलित ध्यान संभव है और अविचलित ध्यान ही समाधि है, समाधि पूर्ण आनंद की अनुभूति है।

सभी धर्मों के तन्त्र-परक ग्रंथों में मण्डल निर्माण और उसके महत्व का विवेचन मिलता है। उदाहरणार्थ, वैष्णव तन्त्र-ग्रंथ "लक्ष्मी-तन्त्र" के अध्याय 18-41, 37-64, 40-79, 82, 48-2 में मण्डल और अध्याय 31-47 में वासुदेव को "चक्ररूपिणम्" कहा है। ईसाई, लामा, बौद्ध और जैन धर्म भी मण्डल या चक्र को साधना के लिये किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। जैन धर्म में मण्डल का विधान विस्तृत है। प्रत्येक पर्व पर विभिन्न प्रकार के मण्डलों का मण्डन किया जाता है और उनकी विधि-विधान से अष्ट प्रतिहार्य (अशोक वृक्ष, प्रभामंडल, चँवर आदि) तथा अष्ट-मंगल द्रव्यों (जैसे मंगल-कलश, ध्वजा, छत्र आदि) से पूजन किया जाता है। मण्डल-निर्माण के आधार हैं भूगोल, दर्शन, चरित्र, भक्ति आदि। भूगोल संबंधी मण्डल के प्रकार हैं : जम्बूद्वीप, अढ़ाई द्वीप, इन्द्रध्वज, पंचमेल, नन्दीश्वर आदि। जैन मण्डल के अन्य आधार धार्मिक ग्रंथों के प्रतीक रूप में चित्रात्मक उदाहरण मात्र हैं। जैन धर्म ने एक नाम

सर्वतोभद्र विधान भी स्वीकार किया है, लेकिन उसका हिन्दू तान्त्रिक रूप से किसी भी तरह का साम्य नहीं है। जैन मण्डलों में धार्मिक विश्वासों और ग्रंथों का ही प्रतिनिधित्व है। यद्यपि पूर्णघट व स्वस्तिक के चिह्न जो अष्टमंगल-द्रव्य के अंग हैं, वैसे ही हैं जैसे हिन्दू तन्त्रों में।

बौद्धों के "अद्वय वज्र संग्रह", "अद्वय सिद्धि", "सर्वोल्लास तन्त्र" आदि वज्रयानी तान्त्रिक ग्रंथों जैसे, धारणी ग्रंथ, मंजूश्री मूलकल्प, गुह्य समाज तन्त्र में काफी सामग्री उपलब्ध है। हिन्दू तन्त्र ग्रंथ जैसे "कौलावलि निर्णय" व "महानिर्वाण" में तान्त्रिक साधना में मण्डल के महत्व और पूजा-विधान पर सामग्री दी हुई है। केवल सर्वतोभद्र मण्डल पर ही "सर्वतोभद्र चक्र", "सर्वतोभद्र चक्रटीका", सर्वतोभद्र पूजन" व "सर्वतोभद्र मण्डल" (सभी नाम कविराज जी के तान्त्रिक साहित्य, पृ. 686 से लिये हैं।) नामक ग्रंथ उपलब्ध हैं। तात्पर्य यह है कि मण्डल व चक्र दोनों का तान्त्रिक साधना में शक्ति या उसके वैश्विक रूप का आकारात्मक विधान है। इसी कारण सभी धर्मों में मण्डल या चक्र का पूजन उपास्य देव के समान ही होता है, क्योंकि इसी में वे निवास करते हैं जैसे शरीर में आत्मा। शरीर दृश्य है, लेकिन आत्मा अदृश्य है, उसकी अनुभूति हो सकती है। इसी रूप में मण्डल या चक्र में स्थित देव भी जब भक्त का कल्याण करते हैं या सिद्धि-प्रदायक होते हैं, तब उनकी शक्ति की अनुभूति होती है। मण्डल विधान व निर्माण साधक की दृष्टि व मन को केन्द्रित करने का एक सुगम मार्ग है।

5

पञ्चमकार

तान्त्रिक ग्रंथों के लेखक भारत में प्रचलित साधनाओं को पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव में वर्गीकृत करते हैं। पशुभाव के अंतर्गत वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार आती हैं। वीरभाव की साधना में वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार। दिव्यभाव की साधना में आत्मसाक्षात्कार और उस हेतु सात्विक जीवन पर अत्यधिक बल दिया जाता है। रुद्रयामल का (उत्तर खंड VI-50, 51 और XI-28, 29) मत है कि पशु भाव की साधना निम्नतम है और साधना से वीर और दिव्य भाव की साधना में प्रवेश किया जा सकता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि यह अंतर शाक्त और तान्त्रिक साधना में जितना सटीक है उतना वेदाचार, वैष्णवाचार और दक्षिणाचार में नहीं है। अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि इनमें साधक की स्थूल से सूक्ष्म की तरह प्रगति के विभिन्न सोपानों का महत्व है। जैसे जो साधारण भक्त प्रत्येक मूर्ति, प्रतीक व मन्दिर की सकाम भक्ति करता है, वह पशु भाव में है। जबकि जो संप्रदाय-विशेष उसके आचार्य, धर्मग्रन्थ, देव व पूजा-विधि का पालन करे वह वीर भाव का साधक है। मूर्ति व मंदिर को केवल प्रतीक मानकर एक देव या आत्मा को स्वीकार करती है वह दिव्य भाव की साधना है। लेकिन वामाचार व कौलाचार में पूरी प्रक्रिया ही बदल जाती है। यद्यपि ये भी शाक्त व शैव आचार के अंतर्गत आते हैं, लेकिन विशेषता यह है कि वामाचार के वीर भाव में मद्य, मांस, मैथुन आदि की साधना अनिवार्य है। यही वीर भाव जब मद्य, मैथुन आदि को प्रतीक रूप में या अन्य स्थानापन्न द्रव्यों से साधना करते हैं तब दिव्य भाव कहलाता है।

पञ्चमकारों का संबंध वामाचार साधना से ही है। इसमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन साधना के अंग हैं। इनके अन्य नाम पञ्चमुद्रा, कुलद्रव्य या कुलतत्व भी हैं। इस साधना के केन्द्र में "वामा" (नारी) शक्ति के प्रतीक रूप में रहती है। चक्र-पूजा में सहयोगिनी या भैरवी को मुद्रा भी कहते हैं। मुद्रा का एक अर्थ हाथ व अंगुलियों के द्वारा विशेष चित्र बनाना भी है जैसे अभयमुद्रा, वरदमुद्रा आदि।

पञ्चमकार का तान्त्रिक साधना में स्थान

जन-साधारण में एक भ्रम व्याप्त है कि तान्त्रिक साधना में मद्य, मांस, मैथुन आदि के सिवाय कुछ नहीं है। अधिक से अधिक लोगों में यही भ्रम रहता है कि तान्त्रिक साधना में तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र और मुद्रा के प्रयोग से वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। साधना में मद्य, मैथुन व मांस का सेवन अनिवार्य है। तान्त्रिक लोग कोई-सा भी अलौकिक कार्य संपन्न कर सकते हैं। आज के राजनैतिक वातावरण में राजनीतिज्ञ चुनाव में जीत के लिये (अर्थात् अपने प्रतिद्वन्द्वी को हराने के लिये) तान्त्रिकों की शरण में पड़े रहते हैं। बांझ स्त्रियों में मान्यता है कि तान्त्रिक गुरु के आशीर्वाद से वे अष्टपुत्रा हो सकती हैं। रोग, शोक और विघ्न हरण के लिए तान्त्रिक (या मान्त्रिक) की शरण में जाना आम बात है।

वास्तविक बात यह है कि तन्त्र में यह सब आंशिक रूप में सत्य है क्योंकि आवश्यकतानुसार अर्थात् कार्य-सिद्धि के प्रकार के आधार पर मन्त्र, यन्त्र, मंडल या मुद्रा का निर्णय होता है और प्रत्येक साधना में मंडल या मुद्रा आवश्यक भी नहीं है, जैसे शव-साधना व पञ्चमकार में। सर्वतोभद्र मण्डल का निर्माण केवल सात्विक साधना में किया जाता है। श्रीचक्र (श्री-यन्त्र, त्रिपुर-चक्र) केवल श्रीविद्या की सात्विक साधना में ही प्रयुक्त होता है। कुण्डलिनी जागरण की अवधारणा कुछ ही तान्त्रिक ग्रंथों में मिलती है जैसे "तन्त्रराज", "घेरण्ड संहिता", "शारदा लिलक", "सौंदर्यलहरी" पर लक्ष्मीधर की टीका, "रुद्रयामल" "प्राणतोषिणी" आदि। मन्त्र या यन्त्र सिद्धि में इस साधन का उपयोग नहीं किया जाता। तात्पर्य यह है कि तान्त्रिक साधना का अत्यंत व्याप्त एवं विशाल क्षेत्र है।

इसमें प्रवेश के लिये या अपनी कार्यसिद्धि के लिये केवल गुरु ही मार्ग दर्शक हो सकता है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि पञ्चमकार का तान्त्रिक साधना में विशिष्ट स्थान रहा है। यद्यपि मकार के अर्थों में वैदिक, जैन एवं बौद्ध परंपरा के कारण मकार के प्राकृत अर्थों को प्रतीकात्मक द्रव्यों में रूपान्तरित कर दिया है, लेकिन इससे साधना बंद नहीं हुई है। शास्त्रकारों ने साधना के प्रकारों का उल्लेख करके मद्य, मांस, मैथुन को प्राकृत रूप में लेकर की जाने वाली साधना को पशु भाव व वीरभाव की साधना नाम दिया, और मद्य के स्थान पर अदरक व गुड़ के रस, मांस के स्थान पर लवण, लहसुन, गेहूँ और मैथुन के स्थान पर शक्ति का शिव से सामरस्य की साधना को दिव्य-भाव की साधना कहा। इस तरह पञ्चमकारों की साधना में स्वीकृति है जिसके अर्थ साधना के प्रकार पर निर्भर हैं।

प्रत्येक साधक साधना के उच्च स्तर पर नहीं पहुँच सकता। अधिकांश को सहज मार्ग और साधना में सहजता से उपलब्ध होने वाले आवश्यक द्रव्यों का मार्ग ही पसंद आता है। यदि इस मार्ग से वही सिद्धि मिल जाती है जोकि (तथाकथित) दिव्य-भाव की साधना से उपलब्ध होती है, तो व्यर्थ में इस असहज मार्ग को क्यों अपनाया जाये? पञ्चमकारों का प्राकृत अर्थ के स्थान पर प्रतीकात्मक अर्थ क्यों अपनाया गया? इसका उत्तर केवल सामाजिक व धार्मिक इतिहास के पृष्ठों में ही मिल सकता है।

देवी-देवता इस दुनियां से परे नहीं हैं। उनका अस्तित्व मनुष्य और समाज के अस्तित्व के बाद ही आया। इसका एक ज्वलंत उदाहरण है वे असंख्य मूर्तियां जोकि मनुष्य और पशुओं की साधारण या असाधारण प्रतिकृतियां ही हैं। यद्यपि प्रतीकात्मक मूर्तियां भी हैं जैसे शिव व देवी के लिये पाषाण-खंड या लोह या काष्ठखंड। लेकिन मानव-स्वभाव अपनी ही प्रतिकृति में ईश्वर को देखना चाहता है। साधना या भक्ति में जिन द्रव्यों का समर्पण होता है उनका चुनाव भी संसार में उपलब्ध द्रव्यों में से ही एकत्रित्त होता है। यह बात ठीक है कि भक्त ईश्वर को समर्पित करने के लिये शुद्ध द्रव्यों को ही एकत्रित करता है जैसे शुद्ध भोजन व जल का समर्पण। लेकिन अधिकांश जनता सामिष भोजन व मद्य का

सेवन करती है। अतः अपने इष्ट को भी इन्हीं द्रव्यों का समर्पण होना स्वाभाविक है। जैसे आदिवासी लोग अपने देव की पूजा में मांस-मदिरा बिना संकोच व किसी तरह के नैतिक-द्वन्द्व के देवता को समर्पित करके आनंद मनाते हैं। बलि-प्रथा का भी यही स्वरूप व कारण है। धार्मिक प्रभावों के कारण निरामिष और सामिष का अंतर उपस्थित होता है, जैसे जैन व वैष्णव मांसाहार नहीं करते। अतः उनमें किसी भी साधना में इन द्रव्यों को समर्पित नहीं किया जाता। हिन्दू व बौद्ध जो मांसाहार करते हैं और मद्य से परहेज नहीं करते, उनमें पञ्चमकार की साधना अपने सहज अर्थ में ही की जाती है।

तान्त्रिक साधना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

तान्त्रिक साधना का काल 700 ई. से 1200 ई. तक माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसकी साधना इस काल के पूर्व या पश्चात् नहीं होती थी। ऐसे प्रयोग तो वैदिक काल से ही हो रहे थे, लेकिन उनका शास्त्रीय रूप इसी काल में प्रकाश में आया। इसके बाद भी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। इसका अर्थ यह है कि जन साधारण तान्त्रिक साधकों एवं सिद्धियों में विश्वास करता था, और आवश्यकतानुसार उन से लाभ भी लेता था। आज भी हजारों तान्त्रिक अपनी जानकारी का पूरा लाभ ले रहे हैं और इनमें से अनेक जनता को भ्रमित कर अपना हित साधन भी कर रहे हैं। जब तक मनुष्य अभावों से ग्रस्त रहेगा, और नाना प्रकार के रोग और शोक से पीड़ित रहेगा, तान्त्रिकों का मूल्य बना रहेगा। तान्त्रिक साधना की रहस्यवादिता वर्तमान के दु:ख, संकट और भविष्य का भय व आशा व्यक्ति को अन्ध-विश्वासी बना देते हैं। इस मार्ग में लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है, फिर भी विश्वासी आदमी तिनके के सहारे नदी पार करने की कामना संजोये रहता है।

गुप्त काल की क्षण-जीवी स्वर्णिम चकाचौंध में सत्ताधारियों, पुरोहितों तथा व्यापारियों के चेहरे अवश्य चमकने लगे थे, लेकिन समाज के निचले तबके के चेहरों पर चिन्ता की कालिमा छाई हुई थी। कालिदास के नाटकों में भृत्य और नारियां प्राकृत में बोलते थे, जबकि राजवंशी व पुरोहित संस्कृत का उपयोग करते थे। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि

संस्कृत समझते सभी थे, लेकिन भृत्य व नारी को हीन (?) समझ कर न उन्हें संस्कृत सीखने दिया जाता था न बोलने दिया जाता था। यदि यह भेदभाव बोलचाल में बरता जाता था, तो कल्पना की जा सकती है कि समाज के इस बहु-संख्यक भाग के प्रति कैसा व्यवहार होता होगा? इसी के साथ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि कालिदास, भवभूति, शूद्रक, माघ, भारवि आदि का साहित्य नागरिक साहित्य है। इनमें भृत्यों, विदूषकों के अलावा सभी पात्र अभिजात्य वर्ग के ही हैं। अत: जिस सामाजिक व्यवस्था के दर्शन इन काव्य ग्रंथों में होते हैं, उनका संबंध नगर के अभिजात्य वर्ग की ही सामाजिक व्यवस्था है। इसमें गांवों में रहने वाले किसान या आदिवासी या नगर के ही अंतिम छोर पर रहने वाले पददलित समाज के वर्णन नहीं मिलते।

इसका अर्थ यह है कि इस काल के संस्कृत साहित्य से जन-साधारण की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक स्थिति की कल्पना कर पाना कठिन है। यह बात गुप्तकाल से हर्षकालीन और हर्षोत्तर काल में 1200 ई. तक के काल के संबंध में कही जा सकती है। वस्तु स्थिति तो यह भी थी कि भारतीय सामन्तवाद की बेड़ियां जन-सामान्य को अधिकाधिक जकड़े जा रहीं थी। तान्त्रिक साहित्य इसी काल की उपज है।

राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक विघटन में जन-सामान्य की स्थिति

गुप्त काल में शासन की सामन्तीय प्रणाली के उदय से ही केन्द्रीय सत्ता कमजोर होती गई। सामन्त लोग कभी भी अवसर पाकर केन्द्र के विरुद्ध विद्रोह करके सत्ता हथिया सकते थे। गुप्त सम्राटों को आंतरिक एवं बाह्य आक्रमणों से हमेशा ही सावधान रहने की आवश्यकता थी। हूण और शक प्राय: पश्चिम, उत्तर व पूर्व से आक्रमण किया करते थे। विरासत के निश्चित नियम नहीं थे, फिर भी बड़ा लड़का अयोग्य होने पर भी राजसिंहासन पर बैठता था जैसे रामगुप्त। लेकिन थोड़े अंतराल के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ही अपने शौर्य और कार्यकुशलता से मगध के सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त यद्यपि कुमारगुप्त के बड़े पुत्र थे, लेकिन उनसे छोटे वैमातृक भाई पुरगुप्त ने एक बार तो उन्हें पाटलिपुत्र से अवंतिका की ओर जाकर स्थापित होने के लिये मजबूर कर दिया था।

केन्द्रीय सत्ता की विघटनकारी इन स्थितियों में जनता को कुछ भी अधिकार मिल गये थे और वे केन्द्र से काफी दूर पड़ते थे, इस कारण उन पर हमेशा काबू रखना कठिन था। इसी राजनीतिक परिवेश में हर्षवर्धन सम्राट बने, लेकिन उन्होंने मगध के स्थान पर कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। गौड़ के राजा शशांक ने जब हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन को मार डाला, तब हर्ष का राज्याभिषेक हुआ था। इसके पूर्व कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा को मालवा के राजा ने मार डाला था, तब उनकी पत्नी राज्यश्री (हर्ष की बहन) आत्मरक्षा के लिये अज्ञात स्थान में चली गई। हर्ष ने कन्नौज क्षेत्र को अपने राज्य में मिला कर उसे अपनी राजधानी बनाया। हर्ष अपने साम्राज्य में केवल वल्लभी, मगध, कश्मीर, गुजरात और सिंध को मिला सका था। अर्थात् गुप्तों से हर्ष का साम्राज्य बहुत कुछ सिकुड़ा हुआ था। 647 ई. में हर्ष की मृत्यु के बाद उनका साम्राज्य छिन्न-छिन्न हो गया, और पूरे भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। उत्तर में गुर्जर, प्रतिहार, पूर्व में पाल, ठाकुरी वंश, सेन व गंग, पश्चिमोत्तर में सिंध, काबुल, पंजाब, कश्मीर, करकोटक वंश, उत्पल वंश, दक्षिण में चालुक्य, चोल, राष्ट्रकूट, पल्लव, मध्यांचल में परमार व चंदेल प्रमुख व स्वतंत्र राज्य बन गये थे।

केन्द्रीय राज्य सत्ता के विकेन्द्रित होते ही सामन्त जो अब स्वयं स्वतन्त्र राजा बन बैठे थे, अपने-अपने स्वार्थों को पोषित कर महत्वाकांक्षाओं से पीड़ित रहा करते थे। एक राजा दूसरे से भयभीत और शंकालु रहता था। राजा लोग अपनी प्रजा पर मनमाने कर, विशेषकर भूमि पर, लगा दिया करते थे, और युद्ध या आपात्काल में उन्हें सैनिकों और अधिकारियों का खर्च भी वहन करना पड़ता था। दूसरी ओर सामंतशाही के प्रसार से निजी संपत्ति का भी महत्व बढ़ा। कृषि के बढ़ने से व्यापार भी बढ़ने लगा। क्षत्रिय लोग पूर्वानुसार या तो राजा, सामंत या सैनिक थे, जिनके संतोषप्रद भरण-पोषण में किसी भी व्यवस्था में कमी नहीं आती। आवश्यकता होने पर लूटमार करके भी अपना काम चलाते थे। जब राजनैतिक सत्ता के विकेन्द्रित होने पर तथा निजी संपत्ति के प्रवेश पर समाज भी विकेन्द्रित होने लगा, तब भय, द्वेष, अत्याचार, आत्मसुरक्षा,

दु:ख, अभाव आदि के भाव अधिक प्रबल होने लगे। बाह्य राजनैतिक व आर्थिक स्थितियाँ जन-साधारण के विपरीत थीं। कृषि व व्यापार बढ़ने पर भी इस वर्ग को कुछ हाथ नहीं लगा। वे पहिले ही की तरह परिश्रम करने पर भी अशिक्षित, अभावग्रस्त और भूखे रहने को मजबूर थे। इस दयनीय स्थिति का वर्णन डॉ. रामशरण शर्मा ने अपने ग्रंथ "पोलिटीकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एनशंट इण्डिया" के पृष्ठ 299 पर इस तरह किया है:

"Thus making peasants poorer and poorer, traders richer and richer and Brahmana fatter and fatter."

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि जन-साधारण की हालत दिन-प्रतिदिन विवशता और दीनता की ओर बढ रही थी। यह सही है कि जिनके हाथ में सत्ता है, उत्पादन के साधन हैं और शिक्षित हैं, वे अभावों में कम ही जीते हैं। यदि कोई हो तो भी वे अपनी महत्वाकांक्षाओं की बलि वेदी पर अपना वर्तमान स्वाहा कर देने के कारण वैसी स्थिति में पहुंचे हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि जन-साधारण के हाथ में यही रहा था कि किसी अदृश्य शक्ति और ईश्वर की शरण में जाकर अपने अभावों व कष्टों को दूर करने के लिये निवेदन करें। ऐसी ही स्थिति में तन्त्र का उदय होता है। तान्त्रिक साधना और साहित्य जन-साधारण की दैनिक समस्याओं, उसके अभावों व कष्टों को दूर करने का क्रमिक इतिहास है।

तान्त्रिक साधना के पूर्व (700 ई.) धार्मिक परिवेश

मानव समाज में जब से किसी अदृश्य शक्ति या देवी-देवता की अनुभूति हुई है तभी से ऐसी शक्ति को प्रसन्न करने और अपनी कामना-पूर्ति के लिये अनेक प्रकार की साधनाएँ चलती रही हैं। भारत के इतिहास में यह तथ्य अधिक उजागर है। विशेषकर 700 ई. के पूर्व तक कई धर्म व साधनाएँ प्रचलित थीं।

वैदिक धर्म की यज्ञ-परंपरा एक प्रकार की उपासना ही थी, जिसमें अश्वमेध, राजसूय व सोमयज्ञ सरीखे बड़े-बड़े यज्ञ लगभग समाप्त हो गये

थे, यद्यपि पुलकेशी-1 (चालुक्य वंश) ने 550 ई. में अश्वमेध किया था, और 18वीं सदी में आमेर के राजा जयसिंह ने भी अश्वमेध किया था। ऐसे एक दो उदाहरणों को छोड़कर बड़े-बड़े यज्ञों की परंपरा समाप्त ही हो गई थी। लेकिन काम्येष्टि (आयुष्काम्येष्टि, पुत्रकाम्येष्टि) तथा वैश्वदेव, अग्निहोत्र आदि यज्ञ आज तक प्रचलित हैं। निष्ठावान ब्राह्मण, आर्य समाजी व गायत्री परिवार के लोग आज भी यज्ञ की परंपरा चलाये हुए हैं। (यद्यपि वैदिक यज्ञों से इसका कोई साम्य नहीं है)। जिस साधना से सिद्धि प्राप्त हो, वही तन्त्र है, यदि यह अतिव्यापक अर्थ लें तो यज्ञ, विशेषकर काम्येष्टि भी वैदिक तन्त्र-साधना ही है।

इसके अतिरिक्त जो धर्म प्रचलित थे, जैसे वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर्य संप्रदायों में यद्यपि भक्ति तत्व प्रधान था; किन्तु भक्ति के प्रकार और कर्मकांड भिन्न थे। इसी तरह बौद्ध एवं जैन धर्म में नैतिकता-प्रधान भक्ति की प्रधानता थी, लेकिन उनके उपास्य अर्हत या तीर्थंकर थे जोकि धरती पर अवतरित हुए थे। दोनों में किसी अदृश्य पारलौकिक शक्ति की करुणा की अपेक्षा नैतिकता, व्यक्तित्व विकास और साधना से निर्वाण पर बल दिया जाता था।

ईसा की सप्तम सदी तक ये सभी धर्म अपनी-अपनी सांप्रदायिक साधनाओं और सिद्धांतों के साथ भद्र समाज में प्रचलित थे। यह कहना कि ग्रामीण जनता व आदिवासी भी इन संप्रदायों के अनुयायी थे, उचित नहीं है। भारत की यह बहुत बड़ी आबादी आज भी अपने प्राचीन रीति-रिवाजों व कर्मकांडों से बंधी हुई है। ऐसी स्थिति में एक ओर मरणासन्न यज्ञ-परंपरा, दूसरी ओर वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदाय और तीसरी ओर बौद्ध व जैन सरीखे नास्तिक धर्म धार्मिक आचरण का मार्ग सीधा सरल बनाने की अपेक्षा जन-साधारण को सम्भ्रम में अधिक डाल रहे थे। आदर्शवादी दृष्टि से विभिन्न धर्मों में विरोध का प्रश्न नहीं उठता, लेकिन जब अनुयायियों की संख्या अधिक बढ़ाने और समाज के श्रेष्ठि वर्ग में अपना प्रभाव जमाने के लिये सभी धर्म आतुर थे, तब मन्दिर, देवता, आचरण की भिन्नता, धर्मोपदेशक और साधुओं के कारण जनता में राग-द्वेष और भेद-बुद्धि उत्पन्न होना स्वाभाविक था। जो भारत

राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रित हो चुका था, उसकी छाया धार्मिक साधनाओं की विभिन्नता में भी दिखाई दे रही थी।

लेकिन जनता कभी निराश होकर हाराकिरी (सामूहिक आत्महत्या) नहीं करती। अपनी मुक्ति का कोई न कोई मार्ग खोज ही लेती है। इस खोज में दृष्टि सार्वलौकिक होती है, अर्थात् संभव है कि एक धर्म में कोई सर्वसुलभ पद्धति की अनुभूति हुई हो, लेकिन उसका प्रचार सार्वजनिक हो जाता है। यह तथ्य धार्मिक साधना के प्रत्येक काल में देखा जाता है। भगवद्गीता के भक्ति तत्व और अवतारवाद को नास्तिक या आस्तिक सभी संप्रदायों ने मान्यता दी। बौद्धों में महायान सम्प्रदाय भक्ति तत्व का ही प्रवेश है। ज्ञान और कर्मप्रधान हीनयान की अवनति होने लगी। जैन धर्म में तीर्थंकरों की नाना प्रकार से भक्ति ही की जाती है। इसी तरह वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर्य मत भी उपासना और भक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। वैष्णवों ने विष्णु के अवतारों की पुराणों में व्यापक व्याख्या की है, तो शैवों ने भी शिव के अवतार गिना दिये हैं जिनमें लकुलीश को अंतिम माना जाता है। बौद्धों की जातक कथाएँ बुद्ध के अनेक जन्मों से संबंधित हैं। ध्यानी-बुद्ध और बोधि-सत्व बुद्ध के लौकिक अवतार ही हैं। तात्पर्य यह है कि एक बार भक्ति को सर्वजन सुलभ और फलदायी पाने पर भी सभी धर्मों व संप्रदायों ने स्वीकार कर लिया। यह बात ईसा की प्रथम सदी से 7वीं सदी के पूर्व वाले भारत के संबंध में सर्वथा सत्य है।

इन सदियों ने सातवाहन, कुषांण, गुप्त, हर्ष आदि का साम्राज्य देखा है। साम्राज्यवादी राजनैतिक प्रणाली में दर्शन व धर्म में भी एक तत्ववाद और एकैश्वरवाद ही पनपता है। महावीर और बुद्ध को जैन एवं बौद्ध अपनी धार्मिक भाषा में ईश्वर न कहें, लेकिन हिन्दुओं के अवतारवाद के अत्यधिक समीप हैं। वैदिक परंपरा का एक देववाद, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि संप्रदायों में स्पष्ट ही है। वेदांत का अद्वैत तत्व शंकर के चिंतन में "एकं सत्" के रूप में प्रकट होता है। लेकिन गुप्त काल से ही राजनैतिक विकेन्द्रीकरण प्रारंभ हो गया था जोकि हर्ष के बाद भारत को अनेक

राज्यों में बांट चुका था। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज की महत्वाकांक्षाओं के बढ़ने और उनकी पूर्ति के लिये राग-द्वेष के राजनीतिक हथियार काम में लेने, जनता में अभावों व असुरक्षा की भावना पैदा होने के रूप में होती है।

प्राचीन भारत के साम्राज्यों में जनता अधिक दुःखी रहती थी, क्योंकि उनके दुःख दर्द को सुनने वाला भौगोलिक, तकनीकी और प्रशासकीय दृष्टि से अत्यंत दूर, लगभग अदृश्य ही, रहता है। सम्राट के हाथ, पैर व कान उनके अधिकारी व कर्मचारी होते हैं। वे भी सत्ता के केन्द्र से दूर रहने का पूरा लाभ उठाते हैं, अर्थात् जनहित के स्थान पर जनशोषण ही अधिक करते हैं। जनता अपनी जाति, जन्म, कर्म और भाग्य की ओट में सभी कुछ सहती है। वे इसे शोषण न समझकर जीने का तरीका ही समझते हैं। साम्राज्य की सीमाएँ चूँकि व्यापक होती हैं, अतः बाह्य आक्रामकों व लूटपाट का भय तो नहीं रहता, लेकिन आंतरिक अधिकारी इतनी लूटपाट करते हैं कि जन-साधारण जोकि राजा व अधिकारी के कमाऊ पूत होते हैं, कंकाल मात्र रह जाते हैं। लेकिन सत्ता के विकेन्द्रीकरण में इस वर्ग को अधिक यातना सहनी पड़ती है। क्योंकि बाह्य आक्रमणकारियों का सामना इसे ही करना पड़ता है। आंतरिक शोषण अधिक बढ़ जाता है क्योंकि शांति में उसे राजा के वैभव को बढ़ाने के लिये अधिक परिश्रम करना पड़ता था और अशांति के समय शांति स्थापित करने का आर्थिक व परिश्रम का भार इसी समुदाय को उठाना पड़ता था।

700 ई. से 1200 तक की धार्मिक स्थिति

उपर्युक्त काल में प्रत्येक धर्म व संप्रदाय में अनेक देवी-देवताओं का उदय हुआ। पहिले भी कम नहीं थे, लेकिन अब प्रत्येक गांव, शहर, कुल और यहाँ तक कि मुहल्ले-मुहल्ले में देवी-देवता की स्थापना होने लगी। राजा व रईस बड़े और भव्य मंदिर भी बनवा देते थे। कारण यह था कि जब आदमी त्रस्त होता है और साधारण प्रयास से अपना दुःख दर्द दूर नहीं कर सकता, अपने अभावों से मुक्ति नहीं पा सकता और अपनी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं कर सकता, तब ज्योतिष, देव-कृपा और भाग्य की शरण में

जाता है। इसमें गरीब-अमीर का भेद नहीं है, क्योंकि अमीर अधिक अमीर बनने की अभिलाषा से देव के दरबार में गुहार करता है, और गरीब अपनी तंगदस्ती और अत्याचार से मुक्त होने के लिये भगवान् की शरण में जाता है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति और समाज की हर हालत में देवी-देवता अविलगनीय तत्व हैं। धर्म, मंदिर व देवी-देवता का महत्व उस स्थिति में अधिक बढ़ जाता है, जब अभिजात वर्ग के लोग उसके अनुयायी हो जाते हैं या उन्हें अपना लेते हैं। अशोक, कनिष्क और हर्ष के बौद्ध धर्म अपनाने व गुप्त सम्राटों के विष्णु के उपासक होने के कारण उन-उन धर्मों की कल्पनातीत उन्नति हुई थी।

तान्त्रिक दृष्टि का उदय

धर्म और उपासना के क्षेत्र में इस युग की उल्लेखनीय बात थी तान्त्रिक दृष्टि का उदय। कोई भी धर्म या संप्रदाय ऐसा नहीं था जिसमें इस दृष्टि का प्रवेश न हुआ हो। इस दृष्टि का सिद्धांत है "जो शरीर में नहीं है वह विश्व में कहीं नहीं है।" शरीर विश्व का अणु रूप है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी वस्तु या विचार शरीर में ही व्याप्त है। स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख, तीर्थ, पवित्र नदियाँ और सागर, मोक्ष आदि का केन्द्र शरीर है। स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति के लिये किसी तीर्थ में जाने या नदी में स्नान करने की आवश्यकता नहीं है। मोटे रूप से तन्त्र में यन्त्र और मन्त्र का महत्व है। तन्त्र का अर्थ है शरीर की रक्षा तथा उसकी क्षमताओं का विस्तार। इसके लिये तन्त्र अर्थात् साधन की आवश्यकता है। यन्त्र में सीधी रेखा या वर्तुल के आकार होते हैं जिनमें अंक, अक्षर, बीजाक्षर व मंत्र लिखे जा सकते हैं। यन्त्र को शक्ति का घर माना जाता है। इसे जगाने के लिये या तो यन्त्र का लेखन के द्वारा पुरश्चरण या मन्त्र का पुरश्चरण किया जाता है। इसी श्रेणी में मण्डल, न्यास व चक्र भी आ जाते हैं जिनका उद्देश्य भी यन्त्र के समान ही होता है। तीसरी आवश्यकता मन्त्र की होती है जो मन का त्राण करता है, और मन को शुद्धता प्राप्त करने में सहायक होता है। शुद्ध मन मन्त्र की देवी या देवता और मन्त्र का उद्देश्य प्राप्त करने में सहायक होता है।

इस दृष्टि की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह साधक को इहलौकिक सिद्धि प्राप्त करने में प्रवृत्त करती है। मुक्ति का अर्थ पारलौकिक या मरणोत्तर अस्तित्व प्राप्त करने के स्थान पर इहलोक में शरीर का स्वास्थ्य, शक्ति, दीर्घायु, सौंदर्य, संतोष और शांति प्राप्त करना है। इसमें विदेह मुक्ति की अपेक्षा जीवन्मुक्ति पर बल दिया जाता है। ज्ञान और अध्यात्म का मार्ग वैराग्य और संन्यास की ओर ले जाता है, तन्त्र का मार्ग व्यक्ति को जीवन के चौराहे पर खड़ा करके उसे पूर्ण जीवन जीने के लिये प्रेरित करता है। उसकी मनोकमनाओं और महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये मन्त्र, यन्त्र, औषधि और कई प्रकार की साधनाओं के लिये मार्गदर्शन करता है।

इस दृष्टि का व्यापक प्रभाव

इहलौकिक दृष्टि के प्रभाव को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि जन-साधारण का जीवन अनिश्चित, साधनहीन और कठोरताओं से पूर्ण हो गया था और जीना भी कठीन हो रहा था। लौकिक राजसत्ता और धनबल उनकी सहायता की अपेक्षा शोषण ही अधिक करते थे। ऐसी स्थिति में सिवाय अलौकिक शक्ति की शरण में जाने के अन्य कोई मार्ग ही नहीं था। इस शक्ति की शरण में जाना जनता ने उस समय से सीख लिया था जबकि समाज की संपत्ति और सत्ता कुछ हाथों में केन्द्रित होनी प्रारंभ हो गई थी। अतः रोग तो पुराना है। फिर भी इतिहास के प्रत्येक युग में उसे कुछ राहत मिलती रही थी, लेकिन कठिनाई दुगुनी बढ़ जाती थी। वर्तमान में वैज्ञानिक व तकनॉलॉजीकल युग में टी वी सर्वसाधारण के लिये सुलभ हो गया है। बड़े से बड़े गायक और नर्तकी को हम अपने कमरे में बैठे हुए कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए देखते हैं। जो मनोरंजन एक शताब्दी पूर्व केवल कुछ सत्ताधीशों व धनिक वर्ग को ही सुलभ था, आज वह जन-साधारण के लिये उपलब्ध है। लेकिन दूरदर्शन वे बातें भी दिखाता है जो समाज के अधिकांश भाग जैसे अबोध बालक-बालिकाओं को देखने योग्य नहीं होतीं। इसी के साथ बिजली से चलने वाले घरेलू यंत्र इतने आ गये हैं कि अमीर व गरीब सभी सुविधाजनक वस्तु को प्राप्त करने के लिये एक कतार में खड़े हुए हैं। गरीब अपना पेट काटकर,

बाल-बच्चों को अशिक्षित रखकर भी उन सुविधाओं को प्राप्त करना चाहता है। अतः श्रमिक का वेतन बढ़ जाने पर भी वह भूखा रह जाता है। मकान में सुविधा की वस्तुएँ रखने को स्थान नहीं मिलता।

अतः आर्थिक स्थिति सुधरने का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि सभ्यता का समावेश भी इसी परिमाण में हो रहा है। फल यह होता है कि उत्पादक, व्यापारी और सत्ताधीश तो मालामाल होते जा रहे हैं, और गरीब अधिक गरीब होता जा रहा है। इन स्थितियों में भगवान से अपने अभावों को दूर करने के लिये पूजा, कर्मकांडों, बलि, मन्त्र, तन्त्र आदि का आयोजन होता रहता है। अतः सत्ताधीशों के साथ पुरोहित वर्ग भी आराम से जीने लायक जीविका कमा ही लेता है। बचा रहता है निम्न वर्ग का व्यक्ति जो अपने अज्ञान व अक्षमता के कारण हमेशा ही शोषित होता रहता है।

तान्त्रिक साधना का उद्देश्य

मोटे रूप से इस साधना के दो उद्देश्य कहे जा सकते हैं : प्रथम आत्म साक्षात्कार, आत्मोन्नयन या मुक्ति; दूसरा जागतिक अभावों को दूर करना और अपनी अभिलाषा व महत्वाकांक्षा पूरी करना। वैदिक परंपरा की सभी साधन प्रणालियाँ और जैन व बौद्ध धर्मों की धार्मिक व आचारगत प्राथमिकताएँ सभी मुक्ति, निर्वाण, मोक्ष या कैवल्य का ही विश्वास दिलाती हैं।

मनुष्य पारलौकिक, आध्यात्मिक तत्वों के भ्रमजाल में अधिक नहीं रह सकता, क्योंकि पेट भरे बिना सिर भी शून्य होकर चकराने लगता है। इसी तरह विचारों का झुनझुना जब पेट भरा रहता है या इसका विश्वास रहता है, तब तक ही मानव-शिशु का मन बहलाता रहता है, लेकिन पेट खाली होने पर मां का ही स्मरण आता है। यह तथ्य वैदिक काल से ही उजागर होता रहा है। वैदिक ऋषि मन्त्रों में बार-बार अपने शत्रुओं पर विजय, धन-धान्य व संपत्ति से भरपूर होने और पुत्र-पौत्रादि से भरापूरा परिवार होने की कामना करता है। वह देव के प्रीत्यर्थ हर बार यज्ञ करता है, और प्रतिफल में अपनी कामनाओं की पूर्ति की याचना करता है।

जब साधारण तरीकों से अभिलाषा पूर्ण नहीं होती तब वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि के लिये ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अनेक प्रयोग दिए हुए हैं। ऋग्वेद में नींद लाने वाला मन्त्र (7-55-5, 8) और सौत के विरोध का मन्त्र (10-145) हैं। अथर्ववेद में बहुत से सूक्त शत्रुनाशन के शीर्षक वाले हैं (2-12-24, 3-6, 4-3, 5-8, 6-8, 65, 67, 134)।

कृत्या-दूषण (अभिचार के प्रभाव को दूर करने वाला) मंत्र अथर्व. 2-II में है। ब्राह्मण, पुराण आदि ग्रंथों में भी ऐसे मन्त्रों का उल्लेख है। तात्पर्य यह है कि साधारण मार्ग से अभिलाषा की पूर्ति न होने या बाधा आने पर उसके लिये यन्त्र, तन्त्र का मार्ग अपनाया जाता था। ऐसी औषधि के प्रयोग का भी उल्लेख है जिससे सौत (सपत्नी) को पीड़ा पहुँचती है और वह वश में हो जाती है (इमां खनाम्योषधिं वीरूधं बलवतमाम, यया सपत्नीं बाधते यया संविदन्ते पतिम्, ऋग्वेद, 10-45)।

तात्पर्य यह है कि वैदिक काल से ही उन साधनाओं, प्रयोगों और औषधियों का उपयोग हो रहा था जिन्हें तान्त्रिक युग में (700 ई. से 1200 ई. तक और आज भी कई रूपों में प्रचलित है) मन्त्र, यन्त्र, न्यास, मण्डल, पुरश्चरण आदि के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। कई लोग किसी रोग का अच्छे से अच्छे चिकित्सक से इलाज कराने के बाद निराश होकर तान्त्रिक के पास जाते हैं। राजनीति में तो फैशन हो गया है कि हर नामांकित राजनीतिज्ञ का कोई न कोई तान्त्रिक होता है। मध्य युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति धार्मिक आचरण है। लेकिन भारत में जितने भी आस्तिक या नास्तिक धर्म हैं, सभी ने इस युग में तन्त्र को अपनाया। वैष्णव, शैव, गाणपत्य, जैन, बौद्ध सभी ने अपने-अपने संप्रदायानुकूल तान्त्रिक साधनाओं को अपनाया है। पाञ्चरात्र आगम ग्रंथ, "लक्ष्मी तन्त्र" की तान्त्रिक दृष्टि को शाक्त एवं शैव मतानुयायी भी महत्व देते हैं। बौद्धों के मन्त्रयान और सहजयान कई अंशों में हिन्दू तान्त्रिक साधना के मूल आधार हैं।

जिस पञ्चमकार के वामाचार के कारण हिन्दू तन्त्र अत्यधिक बदनाम हुआ है, उसका प्रारंभ महायान के अंतर्गत रहस्य-साधना में

700 ई. के पूर्व ही हो गया था। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र उपाध्याय का एक उद्धरण महत्वपूर्ण है। उनका कथन है[1] :

"निस्संदेह, मन्त्र-तत्व का प्रचार तो जन-सामान्य में अवश्य था, किन्तु शक्ति तत्व की पञ्चमकार (मत्स्य मुद्रा, मैथुन, मांस और मद्य) की साधना अत्यंत गुप्त, सीमित और दीक्षित मण्डली में चलती रही होगी। 7वीं शताब्दी के पूर्व का कोई भी ऐसा तान्त्रिक बौद्ध ग्रंथ प्राप्त नहीं है जिसमें इन तत्वों का पोषण साधनात्मक, दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से किया गया हो।"

"मन्त्र, यन्त्र, मण्डल, मुद्रा, शक्तितत्व, पञ्चमकार आदि तान्त्रिक बौद्ध धर्म में उद्घोषित करने वाला आद्य आचार्य कोई भी रहा हो, लेकिन यह निश्चित है कि लगभग 6ठी शताब्दी के पूर्व महायान में ये तत्व बी— रूप में प्रविष्ट हो चुके थे।"[2]

पञ्चमकारों की व्याख्या

मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा, मैथुन पञ्चमकार हैं। इनका संबंध साधक के साधना की प्रक्रिया में आहार-विहार से है। पान (मद्य), मत्स्य व मांस (खान), आंगिक चेष्टा (मुद्रा), और भोग (मैथुन) स्वस्थ मनुष्य (साधक) की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। लेकिन तान्त्रिक साधना की विशेषता है कि इनको एक साथ रखकर समन्वित रूप में साधना के अंग कहा गया है। प्रारंभ मद्य-सेवन से होता है और अंत मैथुन से। इन क्रियाओं के पूर्व विधि-अनुसार देवी की स्थापना, न्यास, यन्त्र-मण्डल की पूजा, मन्त्र और कवच-पाठ के पश्चात् प्रसाद रूप में मद्यपान एवं मत्स्य-मांसाहार होता है। मद्यपान से ध्यान केन्द्रित होने लगता है, और साधक गुरु के निर्देशानुसार गुप्त रूप से मुद्रा (आंगिक अभिव्यक्तियाँ) करता है। कुलार्णव तन्त्र तथा शारदातिलक 23.106 के अनुसार मुद्रा की व्युत्पत्ति है (मुद्+रा) या (मुद्+द्रावय) अर्थात् जो देवों को आनंद देता है, जिससे

---

1. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2015, पृ. 102, 103)
2. वही पृ. 99.

देवता प्रसन्न होते हैं। मैथुन के लिये अपनी पत्नी, रजकी या डोम्बी का चुनाव होना चाहिये। इसमें हठयोग के अनुसार वज्रोली मुद्रा का साधन होता है।

उपर्युक्त प्रक्रियाओं का संबंध मनुष्य की आहार व मैथुन की जन्मजात प्रवृत्तियों से है। लेकिन साधना में यह ध्यान रखना नितांत आवश्यक है कि प्रत्येक साधन में संयम बरता जाना चाहिये[1], जिसका तान्त्रिक-साधना में अर्थ है प्रसाद रूप में ग्रहण करना। जैसे चरणामृत से प्यास बुझाने की सोचना मूर्खता है, उसी तरह मद्य-सेवन से बेहोशी की स्थिति तक पहुँचना वह साधना नहीं जिससे साधक में देवत्व प्रकट होता है और सिद्धियां प्राप्त होती हैं, वरन् नर-पिशाच होना है। इसी तरह मांस-मत्स्य के आहार की भी बात है। अंतिम सोपान है मैथुन, जिसमें नारी में शक्ति का आरोप करना चाहिये अर्थात् यह मनन होना चाहिये कि जगत् की समस्त स्त्रियाँ शक्ति की मूर्तियाँ हैं (स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु, दुर्गा सप्त., 11.6)। इससे भौतिक एवं शारीरिक क्षणिक सुख की अनुभूति अपरिमेय आनंद में परिवर्तित हो जाती है।

नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न

पञ्चमकारों के संबंध में नैतिक तथा अनैतिक का प्रश्न उठाना उचित नहीं है, क्योंकि इनका संबंध सामान्य-जीवन के खान-पान व भोग से है। यह मानने पर कि मद्य सेवन और मांसाहार अनैतिक हैं, हम विश्व की तीन-चौथाई जनता को अनैतिक व पापाचारी कहने पर विवश हो जायेंगे। वैदिक आर्य यदि अपने धार्मिक कार्यों एवं उत्सवों के अवसर पर सोमपान करते थे, तो आज का आदिवासी भी अपने हाथों बनाई शराब या वृक्षों से प्राप्त ताड़ी का सेवन करता है और अपने देवी-देवता को भी अर्पित कर अपने आप को कृत-कृत्य समझता है।

नैतिकता को संकल्पात्मक निर्णय के दायरे से खान-पान की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तक बढ़ाना जैन, बौद्ध एवं वैष्णव धर्मों के प्रचार-प्रसार के कारण है। भारतीय भूमि के बहुतांश को कृषि योग्य बनाने, फल-स्वरूप

1. भगवद्गीता 6.17 में साधारण जीवन और योग-साधना में युक्ताहार-विहार निर्देश किया गया है।

उद्योग धंधे बढ़ने और व्यापारी वर्ग के उदय होने पर बल डाला गया। कृषि-क्षेत्र बढ़ने के कारण पशु-पक्षियों की सुलभता भी समाप्त होती गई। अतः जैन, बौद्ध, व वैष्णव मतानुयायियों ने खान-पान में अहिंसा को धार्मिक रूप से स्वीकार किया, लेकिन दूर र॓ को भी कृषि-उपज से कम खर्चे में पेट पालने का तर्क समझ में आने लगा। यही कारण है कि जन-जीवन में निरामिष और सामिष दो भोजन पद्धतियाँ प्रचलित हो गई और धार्मिक प्रचार के कारण सामिष भोजन को आध्यात्मिक मार्ग के लिये अहितकर माना जाने लगा। यहाँ तक कि मद्यपान व मासांहार को पाप-सेवन की श्रेणी में रख दिया गया।

लेकिन यह कटु सत्य है कि सदियों से इन धर्मों के द्वारा खान-पान में अहिंसात्मक दृष्टि के प्रचार-प्रसार के बावजूद भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग जोकि 75 प्रतिशत से भी अधिक हो सकता है, सामिष भोजन को अग्राह्य व अधार्मिक नहीं मानता। जन-संख्या के इस बहुतांश में निचली जातियां, आदिवासी, खेतिहर, मुसलमान, क्रिश्चियन, पारसी, सिक्ख, पहाड़ी जातियां (इनमें उच्च जातियां भी) शामिल हैं। इसका प्रभाव जैन, बौद्ध एवं वैष्णव मतानुयायियों की वर्तमान जनसंख्या से विदित होता है। 1988 की जनंसख्या के अनुसार भारत में जैनों की संख्या 35 लाख व बौद्धों की 47 लाख, निरामिष भोजी कट्टर वैष्णवों की संख्या तो और भी बहुत कम होगी।

इसका एक अर्थ तो यह है कि धर्म और साधना के क्षेत्र में अहिंसात्क खान-पान को अत्यधिक महत्व देना धर्म-प्रचार के पक्ष में नहीं है, दूसरे आध्यात्मिक अनुभूति में यह किसी प्रकार बाधक नहीं है। संयम के महत्व को सभी साधनाएँ, भारतीय या अभारतीय, स्वीकार करती हैं। असंयमित मिठाई, दूध व घी का सेवन भी शारीरिक-नैतिकता के विरोध में है और जो शरीर को हानि पहुँचाता है, वह खाद्य पदार्थ आध्यात्मिक अनुभूति में बाधक ही होगा।

पञ्चमकार की साधना का आध्यात्मिक आधार :

पञ्चमकारों में से एक एक का अलग-अलग स्त्रोत तो वैदिक युग से ही मिल जाता है। यज्ञों के समय सोमपान एक आवश्यक क्रिया थी।

सामिष भोजन तो प्रचलित था, लेकिन धार्मिक कर्मकांड की एक आवश्यक प्रक्रिया नहीं थी। मैथुन अवश्वमेध के समय एक प्रतीकात्मक क्रिया थी जिसमें मृत अश्व के साथ पटरानी को सोना पड़ता था जिनको चादर से ढक दिया जाता था। महाभारत के अश्वमेध पर्व (89-2, 3) में मृत अश्व की बगल में द्रोपदी सोई थी। वाजसनेई संहिता (xxiii) में इसका विषद वर्णन है।

छान्दोग्य उपनिषद् (II- 13 से 18) में वामदेव्य साम, वैराज साम, शक्करी साम आदि की उपासना में मैथुन की प्रतीकात्मक शब्दावली का उपयोग करके यह संकेत दिया गया है कि मैथुन साधना का अंग हो सकता है (भले ही शाब्दिक कल्पना मात्र हो)।

वज्रयान और सहजयान बौद्ध मत की महायान शाखा की वैकासिक सीढ़ियां हैं। दोनों में शक्ति को महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकृति मिली है। शक्ति के नाम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं जैसे प्रज्ञा, नैरात्म्य, डोम्बी, मातंगी, मुद्रा आदि। व्रज्रयान की प्रज्ञा सहजयान में वैरात्म्य, डोम्बी, मातंगी, चण्डाली कहलाती है। बौद्ध तन्त्र का प्रारंभ वज्रयान के पूर्व मन्त्रयान में ही हो गया था, लेकिन उसका पूर्ण विकास वज्रयान व सहजयान के सिद्धों में ही पाया जाता है।

तन्त्र में शक्ति का प्रवेश स्वाभाविक है, क्योंकि जब शास्त्र, कर्मकांड, जाति-पांति, तीर्थ-व्रत के ऊपरी आडंबरों से मुक्त होकर देह को विश्व का अणुरूप-अस्तित्व मान लेते हैं, तब प्रत्येक देहधारी मानव की देह ही तीर्थ, नदियां, देवी-देवता, ईश्वर का वासस्थान हो जाती है। वही उपनिषदों के आनंद और वज्रयानियों के महासुख का केन्द्र है। उपनिषद् में आनंद की अवधारणा ब्रह्मरूप में है, अर्थात् यही ब्रह्म का स्वरूप है। इसका अर्थ यह है कि इस सोपान पर पहुँचकर भोक्ता व भोग्य का अंतर समाप्त हो जाता है, और केवल आनंद ही शेष रहता है। बौद्ध तन्त्रों की अवधारणा महासुख की है। वेदांत में माना यह जाता है कि सुख दैहिक होता है जिसका संबंध बाह्य विषय से होता है और जो क्षणिक होता है। लेकिन बौद्ध तन्त्र इसे स्वीकार न करके सुख को दैहिक मानकर भी उसे

महासुख या नित्य-सुख के समकक्ष मानते हैं। ठीक भी है, क्योंकि जब तन्त्र की यथार्थवादी दृष्टि शरीर व आत्मा के भेद को न मानकर चित्त को अनुभूति का साधन मानते हैं और चित्त की शुद्धि के लिये नैतिक, यौगिक व आध्यात्मिक साधना को स्वीकार कर लेते हैं। जीवित रहते जीवन्मुक्ति संभव है जिसमें महासुख की अनुभूति होती है। शरीर को निरोग, स्वस्थ एवं बलवान बनाने के लिये राजयोग व हठयोग की क्रियाएं हैं, तो आवश्यकतानुसार औषधि (जैसे पारद रस) का सेवन भी किया जा सकता है।

सुख एक अनुभूति है जिसमें कर्ता, कर्म व करण का द्वैत रहता है, लेकिन जैसे-जैसे साधना गहन होती है, वैसे-वैसे यह द्वैत मिटता जाता है और सुख की अद्वैतानुभूति होने लगती है जिसे महासुख, शिव-शक्ति सायुज्य या उपाय-प्रज्ञा की युगनद्ध स्थिति या सामरस्य की अनुभूति होती है। इस तरह उपनिषदीय आनंदलोक की काल्पनिक उड़ान विदेह-मुक्ति में ही समाप्त होती है जबकि तान्त्रिक महासुखवाद की उपलब्धि जीवित रहते संभव होती है। शरीर के इस रूप को तन्त्र में दिव्य-तनु कहते हैं, और मन्त्र का प्रणव तनु-साधना के सोपान हैं।

बौद्ध तन्त्र में प्रज्ञा-उपाय, शून्यता-करुणा; शैव व शाक्त तंत्र में शक्ति-शिव; सांख्य में प्रकृति-पुरुष; कुण्डलिनी योग में सहस्रार में शक्ति-शिव का सायुज्य, इन आध्यात्मिक अवधारणाओं का मूल आधार यथार्थ जीवन के नारी-पुरुष या धरती-आकाश इनका युगनद्ध, सामरस्य, सायुज्य या नित्य-मैथुन होना ही महासुख का जन्मदाता है। आध्यात्मिक अवधारणाओं की मूल प्रेरणा यथार्थ जीवन से ही उत्पन्न होती है। प्राकृत मैथुन क्षणिक शारीरिक सुख का कारण है जबकि आध्यात्मिक सम्भोग या युगनद्ध की स्थिति महासुख या नित्य-सुख की अवस्था है। किसी भी संप्रदाय की तान्त्रिक दृष्टि में शक्ति व शक्तिमान का नित्य संयोग रहता है। वेदांत में आत्मा-परमात्मा, कृष्ण काव्य में राधा-कृष्ण व राम काव्य में सीता-राम का नित्य संयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किया जाता है।

मनुष्य स्वभाव से ऊर्ध्वचेता नहीं होता, आध्यात्मिक साधना से अधोगामी वृत्तियां उदात्त होती हैं। अधोगामी वृत्तियां जैसे भूख, प्यास,

नींद, मैथुन, भय आदि जब संयमित होती हैं तब जीवन सुचारु रूप से चलता है। जब-जब असंयमित होने लगती हैं तब-तब मनुष्य अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्टों से पीड़ित रहने लगता है। सामाजिक व आर्थिक जीवन का असंयम शोषण की प्रवृत्ति पैदा करता है। तभी नये-नये नियम व कानून बनते हैं और कभी-कभी विद्रोह भी होते हैं। तन्त्र में महासुख की उदात्त अनुभूति के लिये मैथुन के प्राकृत रूप को शामिल करने से साधारणतया साधक फिसल जाता है और न इधर का रहता है न उधर का। पञ्चमकार में मैथुन की प्रक्रिया मनुष्य को पशु बनाने की अपेक्षा महामानवता की ओर बढ़ने की चुनौती है। वामाचारी जब कामाचारी बनता है तब उसका विनाश तो निश्चित ही है। पञ्चमकार की साधना इसी कारण अत्यधिक बदनाम भी हुई है क्योंकि प्रत्येक लम्पट राजा, रईस और ढोंगी साधक ने इन साधनाओं का प्राकृत अर्थ लेकर सामाजिक विकृतियाँ पैदा की हैं।

तान्त्रिक साधना (विशेषकर पञ्चमकार) पर विदेशी प्रभाव

संसार में भारत, चीन, बेबीलोन, मिश्र आदि की सभ्यताएँ अत्यंत प्राचीन मानी जाती हैं। सभ्यताओं के प्रारंभ से ही मनुष्य ज्ञान की खोज में एक देश से दूसरे देश तक भटकता रहा है, और इस तरह इन ज्ञान-पिपासु यात्रियों के कारण सभ्यताओं में आदान-प्रदान होता रहा है। ज्ञान, साधना और सुविधा के क्षेत्र में कभी भी स्वदेशी और विदेशी का भेद नहीं रहा है। ये तो महज राजनीतिक एवं आर्थिक शब्द हैं, इनका सभ्यता और संस्कृति में कोई स्थान नहीं। लेकिन किसी देश की सांस्कृतिक विशिष्टता देखकर यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि किस देश से ग्रहण किया गया है। पेंट व बुशशर्ट यूरोपियन सभ्यता से भारत ने अपनाया है। भारतीय ज्योतिष में रोमक सिद्धांत यूनानी प्रभाव से आया है।

चीनी सभ्यता की प्राचीनता के हामी इस बात का समर्थन करते हैं कि भारतीय तन्त्र में वामाचार साधना पर चीनी प्रभाव है। इन विद्वानों में प्रथम भारतीय विद्वान महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री व श्री एन.एन. वसु की पुस्तक "माडर्न बुद्धिज्म" की भूमिका के पृष्ठ 10-11 पर लिखते हैं

कि तन्त्र में शक्ति की पूजा शकों के पुरोहित मेगी ब्राह्मणों के साथ संभवत: पश्चिमी एशिया से आई है। वे अपने समर्थन में 6-7वीं सदी के तन्त्र ग्रंथ "कुब्जिका तन्त्र" से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं–

गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः
पीठो पपीठ क्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा।

दूसरे विद्वान वी.टी. भट्टाचार्य अपने ग्रंथ "बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म" में कहते हैं (पृ. 43)–

"The introduction of the Sakti worship in religion is so un-Indian that we are constrained to it as an external or foreign influence."

सर जान वुडरफ का मत–आपने अपने ग्रंथ "महानिर्वाण तन्त्र (मद्रास, 1932, पृ. 43) में प्रतिपादित किया है कि भारत में शक्ति पूजा व तन्त्र का प्रवेश बेबीलोन की सभ्यता के साथ उसके पड़ौसी देश चेलदिया में विकसित सभ्यता से हुआ है जोकि कुषाण (ईसा की प्रथम सदी) वंश के साथ भारत में आई थी। चेलदिया की नाना-निना-नानैया-इनन्ना देवी उर्क की नगर-देवी थी। बाद में इसका अत्ति की मां और ईरानी अनहिता (Anahita) से तादात्म्य हो गया था। इसका नाम कुषाण राजाओं के सिक्के पर मिलता है। हिंगलाज शक्तिपीठ की बीबी नानी (स्थानीय नाम) देवी, सिरमुर विलासपट व कुल्लू पहाड़ी की नैना देवी, नैनीताल की नैनादेवी, इत्यादि का नाना या इनन्ना देवी से सीधा संबंध है। वुडरफ का मानना है कि भारतीय परंपरा का शाकद्वीप यही चेलदिया है। अत: देवी संप्रदाय का प्रवेश चेलदिया सभ्यता से हुआ है।

तन्त्र पर चीनी प्रभाव

चीनी प्रभाव के अनेक सबूत मिलते हैं और उन्हीं के आधार पर कई विद्वान यह मानते हैं कि चीनी रहस्यवादी कई पद्धतियों का समावेश भारतीय तन्त्र में हुआ है।

(1) सन् 1900 में हरप्रसाद शास्त्री ने कुछ संस्कृत ग्रंथों का हवाला देते हुए प्रतिपादित किया है कि तारा मत तथा वामाचार पर तिब्बती व चीनी प्रभाव है। (नोटिसेज ऑफ संस्कृत मेन्यूस्क्रिप्ट्स, द्वितीय

खंड, भूमिका, पृ. 152)। तारा तन्त्र में एक कथा है कि वशिष्ठ भगवान् बुद्ध से उपदेश प्राप्त करने के लिये महाचीन गये थे। वहाँ से वे महाचीन क्रमाचार विद्या लाये थे जिसमें महाचीन-तारा की पूजा का निर्देश है। इस तथ्य के संकेत भी हैं कि ताओ धर्म और तान्त्रिक सिद्धांतों में कई बातें समान रूप से पाई जाती हैं। यह सही है कि इस तथ्य का समर्थन चीन में उस काल में प्रचलित बौद्ध धर्म से होता है।

(2) तारा देवी की चीनाचार पद्धति से पूजा पर चीनी प्रभाव मानने वाले केवल हरप्रसाद शास्त्री ही नहीं हैं। सिलवान लेवी भी तारातन्त्र को आधार बनाकर कहते हैं कि वामाचार की तान्त्रिक पूजा में पञ्चमकारों का प्रवेश चीन से हुआ है। (नेपाल, खंड-1, पेरिस, 1905, पृ. 346) वुडरफ भी अपने ग्रंथ (शक्ति एण्ड शाक्त, मद्रास, 1975, पृ. 123) में इसी मत को स्वीकार करते हैं।

(3) 1874 ई. में रसिकमोहन चटर्जी ने बांगला पांडुलिपियों के आधार पर बंगलालिपि में ब्रह्मानंद का तारा रहस्य, रुद्रयामल व महाचीनाचारक्रम का प्रकाशन किया। इन ग्रंथों में तारा की पूजा के संबंध में वामाचार विधियों का उल्लेख है जोकि वशिष्ठ ऋषि बुद्ध से प्राप्त कर भारत लाये थे। मेरुतन्त्र का भी मत है कि वामाचारी कर्मकांड का मूल स्रोत चीन है। तारातन्त्र में तारादेवी या महानील सरस्वती यह प्रश्न पूछती है कि आपने बुद्ध और वशिष्ठ नामक दो कुल भैरव का उल्लेख किया है, लेकिन यह नहीं बताया कि वे किस मन्त्र से सिद्ध हो गये? उत्तर यह दिया कि सर्वप्रथम उसने अपने आपको पञ्चमकारों से शुद्ध करके देवी को अर्पित करने के बाद स्वतः प्रसाद पाया, यही भैरव या कुल-भैरव कहलाता है।

(4) तारातन्त्र के सम्पादक ए.के. मैत्र ने रुद्रयामल और ब्रह्मयामल के आधार पर कहा है कि दोनों ग्रंथों के अनुसार वशिष्ठ ने पञ्चमकार की शिक्षा चीन से सीखी थी। वशिष्ठ जब एक बार साधना करके असफल हो गये तो तब देवी ने साक्षात् होकर कहा कि उन्हें बौद्धों के देश महाचीन जाकर यह विद्या सीखना चाहिये। वशिष्ठ ने बुद्ध

से प्रार्थना की कि "बुद्ध रूप में हे महादेव ! मैं ब्रह्मा का पुत्र वशिष्ठ आपसे महादेवी की साधना सीखने आया हूँ। मेरा मन व बुद्धि वेद-गामी होने के कारण अनेक सन्देहों से त्रस्त है। यहाँ की रीतियाँ वेद-बाह्य (वेद बहिष्कृत) हैं। सिद्ध लोग किस तरह नग्न रहकर मद्य, मांस, और मैथुन का सेवन करते हैं। वे बार-बार मद्य व मैथुन का सेवन करते हैं (मुहुर्मुहु प्रपिवन्ति रम्यन्ति वारांगनाम्) वे लोग मद्य-स्त्री सेवन रत हैं। यह सब वेद विरुद्ध है और इन वस्तुओं के सेवन से मन किस तरह शुद्ध हो सकता है? वैदिक कर्मकांड के बिना सिद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है?"

वशिष्ठ के इन प्रश्नों से बुद्ध विचलित नहीं हुए और उन्होंने वशिष्ठ को पञ्चमकार की रहस्य विद्या का उपदेश दे दिया। इसके फलस्वरूप वशिष्ठ मुक्त हो गये।

ब्रह्मयामल में यही कथा थोड़े हेरफेर से दी गई है। इसमें वशिष्ठ कामरूप की कामाख्या देवी के नीलाचल पर्वत पर साधना कर रहे थे, तब देवी ने इन्हें महाचीन जाकर चीनाचार में दीक्षित होने के लिये कहा। वशिष्ठ ने चीन जाकर देखा कि महान साधक आमोद-प्रमोद में रत हजारों सुंदर-सुंदर नवयुवतियों से घिरे हुए हैं। वशिष्ठ ने बुद्ध की आँखों को मद्य के नशे में झुका हुआ देखा। वे सोचने लगे कि यह सब तो वेदवाद विरुद्ध है और मैं इससे सहमत नहीं हो सकता। उसी समय आकाशवाणी हुई कि उन्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिये। वे भयभीत होकर बुद्ध की शरण में गये जिन्होंने वशिष्ठ को तारिणी (तारा) संप्रदाय की दीक्षा दी जिसमें पञ्चमकारों का सेवन होता है। बुद्ध का उपदेश था कि इस मत में स्नान, जप आदि का कोई स्थान नहीं है, यह मूर्ति-पूजा नहीं मानसिकी पूजा है। इसमें शुभ-अशुभ अवसर, या शुद्ध या अशुद्ध का विचार नहीं होता। साधक अपवित्र रहकर भी देवी की पूजा कर सकता है। स्त्रियाँ उसी के अभिव्यक्त रूप हैं। इसलिये उनकी पूजा होनी चाहिये।

वशिष्ठ संबंधी इन कथाओं का सार यह है कि वे प्रारम्भ में वेदमार्ग के अनुयायी थे। वे चीनाचार के वेदबाह्य आचारों को देखकर असहमत होते हैं, क्योंकि वे वेदबहिष्कृत व वेदवाद विरुद्ध हैं। उन्होंने नीलाचल पर

तपस्या की जोकि आज तक कामाख्या पीठ के नाम से मशहूर है। कामाख्या में खासी आदिवासियों की Kā-me-Khā देवी है जोकि वास्तव में योनी-पूजा है। कामाख्या के पास अभी भी एक स्थान वशिष्ठाश्रम है जहां पर यात्रीगण आज भी जाते हैं। देवी को जावा पुष्प अत्यंत प्रिय है जोकि वास्तव में चीनी गुलाब है। इससे लगता है कि वशिष्ठ के चीन जाने की कथा में कुछ सार है।

चीनी प्रभाव बताने वाले तर्क उपयुक्त नहीं हैं

हरप्रसाद शास्त्री, सिलवान लेवी, वुडरफ आदि विद्वान कई देवियों जैसे तारा व नैनी को ऐतिहासिक आधार पर मानते हैं कि इनका मूल भारत के बाहर का है। लेकिन धर्म व संस्कृति में आदान-प्रदान के सिद्धान्त के आधार पर ये भारतीय पद्धतियों में अपना ली गई हैं। यहाँ तक तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, लेकिन जब वे अपने अन्य मित्रों जैसे ए.के. मित्र, रसिकमोहन चटर्ज़ी, के साथ यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि पञ्चमकार की साधना पर चीनी प्रभाव है, उपयुक्त नहीं लगता। कारण यह है कि लगभग इन सभी विद्वानों ने रुद्रयामल, ब्रह्मयामल, तारातन्त्र आदि ग्रंथों में उल्लिखित वशिष्ठ की कथा के आधार पर मत बताया है। इन ग्रंथों में वशिष्ठ के चीन जाने और भगवान् बुद्ध से पञ्चमकार की दीक्षा लेने का प्रकरण अलग-अलग ढंग से निरूपित किया है। लेकिन रुद्रयामल 10वीं सदी का हिन्दू तन्त्र ग्रंथ है, और ब्रह्मयामल आदि भी इसी के बाद के हैं। बौद्ध तन्त्र ग्रंथ इसके पूर्व ही प्रकाश में आ गये थे। जैसे साधनमाला (विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार 3री से 12वीं सदी के बीच) गुह्य समाज (5-6 सदी), आर्य मंजूश्री मूल कल्प (6ठी सदी से 8वीं भी हो सकती है), कौलावलि निर्णय (10वीं सदी) आदि ग्रंथों में पञ्चमकार और विशेषकर मैथुन का उल्लेख है। गुह्य समाज तन्त्र में केवल मद्य, मैथुन का उल्लेख ही नहीं, बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि साधना में अपनी मां व बहन से भी मैथुन किया जा सकता है। ज्ञानसिद्धि (इन्द्रभूति कृत 8वीं सदी) हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन, एन.एन. भट्टाचार्य, मनोहर, 1980, पृ. 224)।

इससे विदित होता है कि पञ्चमकार की साधना का प्रारंभ बौद्ध तन्त्रों में हिन्दू तन्त्रों के बहुत पूर्व हो चुका था। हिन्दू तन्त्रों ने उसको अपने ही तरीके से अपनाया था। हिन्दू पण्डितों को पञ्चमकार की साधना भारतीय मूल की न होने को सिद्ध करने के लिये वशिष्ठ के नाम पर एक कहानी घड़नी पड़ी जिसमें यह भी दर्शा दिया है कि जब वशिष्ठ चीन देश पहुँचे तब साधकों को मद्य पीकर मदहोश तथा सुंदर-सुंदर नारियों से घिरे हुए देखकर कहना पड़ा था कि यह आचरण वेदबाह्य है। फिर भी वे देवी के आदेशानुसार बुद्ध से यह साधना पद्धति सीखने के लिये उद्यत हो गये। इस तरह ब्राह्मण पंडित वेद-बाह्य साधना का दोष बौद्धों पर मढ़कर अपने आपको शुद्ध समझने लगे।

इस तथ्य को यों भी प्रकट किया जा सकता है कि धर्म व साधना में एक बार जागतिक दृष्टि आ जाने पर नैतिकता के स्थान पर जन-जीवन में प्रचलित आचार-विचारों को ही धार्मिक साधना का आधार मान लेते हैं। मद्य, मांस, मैथुन, मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताएं हैं। वैदिक यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी और सामूहिक भोज में सोम व मांसाहार प्रचलित था।

मांस व मद्य को अनैतिक मानकर उसे साधना में वर्ज्य माना गया। जैन और बौद्ध दोनों ने अहिंसा का सिद्धांत अपनाया और साधना में अनिवार्य माना। इसी के साथ एक भौतिक तथ्य भी उजागर हो गया था कि कृषि का उत्पादन इतना बढ़ गया था कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार सरल व सस्ता था। मांसाहार से शाकाहार की ओर मुड़ना कृषि-जन्य स्थिति के दबाव के कारण भी था। असल में बौद्ध एवं जैन के प्रभाव के ही कारण ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग और कुछ उच्च जातियाँ शाकाहारी बन गईं। वशिष्ठ इसी युग के प्रतिनिधि हैं, जो प्रारंभ में पञ्चमकार की साधना को अस्वीकार करते हैं, लेकिन बाद में साधना के स्वाभाविक आधारों तथा बहुसंख्यक भारतीय जनसंख्या में इस मत के सरलता से प्रचलित होने की संभावना के कारण स्वतः भी सीख लिया। अतः पञ्चमकार पर चीनी प्रभाव सिद्ध करने की अपेक्षा यह कहना

उचित होगा कि बौद्धों की मन्त्रयान साधना से वज्रयान में विकसित होना जिसमें कि पञ्चमकार की साधना अपनाई गई थी, साधना के रूप का स्वाभाविक विकास था। इसे ही वशिष्ठ सरीखे अनेक पुरोहितों व पंडितों ने अपना लिया था। हम यह पहिले ही कह चुके हैं कि मद्य व मांस का प्रचलन वैदिक युग से आज तक कुछ ब्राह्मण व उच्च जातियों को छोड़कर बड़े पैमाने पर प्रचलित है।

अत: पञ्चमकार की प्रत्येक विधि भारतीय जन-जीवन में प्रचलित थी। बौद्धों ने मन्त्रयान के पश्चात् वज्रयान में आते-आते ईसा की 6-7वीं सदी में साधना की एक संकलित विधि की, जिसे पञ्चमकार नाम दिया गया, खोज की। यह भी सर्वथा सत्य है कि उच्च संपन्न वर्गों को छोड़कर साधारण लोगों में इसका खूब प्रचार हुआ। लेकिन यह भी यथार्थ है कि अपात्र एवं कुपात्रों के हाथों में पड़कर यही साधना खूब बदनाम हुई। वैसे भी मानव स्वभाव है कि वह सरल और अनुभूत मार्ग चुनता है, और चूँकि पञ्चमकारों के तत्व दैनंदिन जीवन के अभिन्न अंग थे, अत: ऐसी साधना की ओर प्रवृत्त होना अस्वाभाविक नहीं था।

पञ्चमकार की साधना पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव

भारतीय धर्म और साधना में प्रारंभ से ही आगम और निगम तत्व एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। इसका फल यह हुआ कि प्राचीन काल से ही प्रत्येक धर्म और साधना में इन स्रोतों के तत्व मिल जाते हैं। यह कहना बड़ा कठिन होगा कि कौन सा तत्व आगम से आया है और कौन सा निगम से? वर्तमान में प्रचलित शैव धर्म में रुद्र यज्ञ का बहुतायत से होना वैदिक यज्ञ परंपरा का प्रभाव है। डॉ. एन. दांडेकर सरीखे विद्वान् रुद्र को इतिहास-पूर्व (प्रो हिस्टोरिक) शिव का आर्यीकरण मानते हैं, और इस संबंध में "शिश्न देव" की पूजा करने वालों के प्रति वेदों में घृणा के भाव प्रकट किये गये हैं, उनका उल्लेख करते हैं (इनसाइट्स इंटू हिन्दुइज्म, अजन्ता पब्लिकेशन, दिल्ली, 1979, पृ. 12)। तात्पर्य यह है कि शिव वैदिक परंपरा के देव नहीं हैं। लेकिन उन्हें इस तरह अपनाया कि आज के हिन्दू धर्म में शैव धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में मिल जाते हैं।

इस तरह न शिव वैदिक परंपरा के हैं न ही रुद्रयज्ञ शैव परंपरा का, लेकिन आज शैव धार्मिक उत्सवों में रुद्रयज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। उसी तरह मूर्ति–पूजा सिंधु सभ्यता या आगम परंपरा की देन है, न कि वैदिक परंपरा की एक कड़ी। यह जगत् प्रसिद्ध तथ्य है कि वर्तमान हिन्दू धर्म को मूर्तिपूजकों का वृहत् समुदाय कहनें में आपत्ति नहीं होगी। यह कहना युक्तियुक्त नहीं है कि मूर्ति–निर्माण पर बौद्ध प्रभाव है। क्योंकि महायान के बहुत पूर्व कौटिल्य के अर्थशास्त्र और पतंजलि के महाभाष्य में मूर्ति–निर्माण व बिकने वाली मूर्तियों के निर्माण के अनेक संदर्भ हैं (इण्डिया एज नोन टू पाणिनी, पृ. 364)।

लेकिन वैदिक परंपरा की ग्राह्यशक्ति का एक विलक्षण उदाहरण है भगवान बुद्ध को एक अवतार मान लेना। इसी तरह शक्ति–पूजा और अनेक देवियों को आदिवासियों से ग्रहण किया है। पञ्चमकार का सिद्धांत निर्विवाद रूप से बौद्धों के वज्रयान से आयात है। यह कहना उचित होगा कि वैदिक परंपरा ने आगम या जीवित परंपराओं से जो कुछ मिला है उसे बिना किसी भेदभाव के अपने में समा लिया है।

लेकिन बात इतनी सीधी नहीं है, क्योंकि वैदिक परंपरा की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, उन्हें छोड़कर आगम परंपरा या आदिवासी समाज से जस का तस ग्रहण नहीं किया है। हर बार यह प्रयास होता रहा है कि जो कुछ ग्रहण किया जाये उस पर रंग वैदिक परंपरा का चढ़ा दिया जाये। शाक्त, शैव एवं तन्त्र परंपरा में सर्वत्र यह देखा जाता है कि उपनिषदों का आत्म–तत्व उनमें महत्वपूर्ण हो जाता है। एक मोटा उदाहरण कुण्डलिनी जागरण का है जो तीनों में महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। शैव मत कहेगा कि मूलाधार में सोई कुंडलिनी जाग्रत होकर विभिन्न चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रार में शिव से मिलती है, शाक्तों में यही बात शक्ति जागरण के रूप में शक्ति का शिव से सायुज्य प्राप्त करना है, या जीवात्मा का परमात्मा से मिलन की अनुभूति प्राप्त करना है। ये व्याख्याएँ वेदांत परक हैं। लेकिन शैव, शाक्त एवं तन्त्र के अधिकांश साहित्य में इसी तथ्य का पोषण किया गया है।

पञ्चमकारों की ब्राह्मणवादी व्याख्या

प्रभाव शब्द को दो तरह से समझना चाहिये। प्रथमः जब पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती ग्रंथ रचना, धर्म या साधना की तुलना की जाती है, तब उत्तरवर्ती रचना या साधना में पूर्ववर्ती के कई संदर्भ मिलते हैं। यद्यपि देशकाल के अनुसार उत्तरवर्ती रचना में परिवर्तन हो ही जाते हैं, और उनका आना स्वाभाविक है। कभी-कभी पूर्ववर्ती रचना में ऐसे महत्वपूर्ण तत्व होते हैं कि उन्हें रचना के अवमूल्यन की कीमत पर ही छोड़ा जा सकता है, ऐसे तत्वों की पुनरावृत्ति होती है। यह अर्थ स्वाभाविक है। लेकिन दूसरे अर्थ में अस्वाभाविकता आ जाती है। पञ्चमकार की साधना का उदाहरण हमारे सामने है। वैदिक परंपरा की पाचन क्षमता और ग्रहणशीलता की चर्चा ऊपर हो चुकी है। हिन्दू तन्त्रों में पञ्चमकार की साधना-पद्धति को स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन इन विचारकों, ग्रंथकारों एवं साधना में दो दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक तो वे हैं जिन्होंने पञ्चमकारों को अपने मूल अर्थ में लिया है, दूसरे वे हैं जिन्होंने अपने आपको नैतिक मानदण्डों पर अधिक शुद्ध मानकर पञ्चकारों में से प्रत्येक के लिये भिन्न वस्तुओं का सेवन करने की योजना प्रस्तुत की है।

ऐसे विभाजन की योजना प्रस्तुत करने का विशेष मंतव्य था। भारतीय समाज में वर्ण-विभाजन एवं जाति-भेद तन्त्रों की साधना के बहुत पूर्व प्रारंभ हो गया था और दूसरी ओर जैन व बौद्धों को आचार-विचार की नैतिकता पर बल देने वाला आंदोलन प्रारंभ हो गया था। वर्णों के अनुसार ब्राह्मणों को आचार-विचार की शुद्धता का पालन कठोरता से करना पड़ता था। इस बात में सभी स्मृतिकार व सूत्रकार सहमत थे। लेकिन अन्य वर्णों के लिये शुद्धता के नियम न तो कठोर थे, न ही उनके लिये आवश्यक समझे गये थे। उदाहरण के लिये सुरा या मद्य पान को लें। ब्राह्मणों के लिये सुरापान महापातक माना गया है (गौतम 2.25, आपस्तव धर्मसूत्र 1.5.17.21), विष्णुस्मृति (22-83, 84) के अनुसार सभी वर्णों के वेदपाठी ब्रह्मचारियों के लिये सभी प्रकार की सुरा निषिद्ध है। काठक संहिता (12-12) भी ब्राह्मणों के लिये सुरा निषिद्ध मानती है (तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिवति)। वैश्यों एवं क्षत्रियों के लिये आटे से बनी सुरा

के अतिरिक्त अन्य सुरा निन्द्य नहीं है। (काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, पृ. 1025)। लेकिन शूद्र के लिये किसी भी प्रकार की सुरा वर्जित नहीं है। इसी तरह ब्राह्मणों के लिये मांसाहार वर्जित है। क्षत्रिय के लिये बंधन नहीं है। शूद्रों के लिये खान-पान का किसी प्रकार का बंधन नहीं है।

पञ्चमकारों में मद्य, मांस व मैथुन आवश्यक कर्मकांड हैं। अतः ब्राह्मण इस तरह की वामाचार साधना में दीक्षित हो ही नहीं सकता। उसके एक बार वैदिक मार्ग से गिर जाने और वाममार्ग में दीक्षित होने पर वह पञ्चमकार की साधना कर सकता है। बौद्ध व जैनों का अहिंसा का सिद्धांत भी अब तक अधिकाधिक स्वीकार्य हो रहा था। ये लोग इस सिद्धांत को खान-पान पर भी लागू कर रहे थे। अतः अनेक तन्त्र ग्रंथों के लेखकों ने पञ्चमकारों की साधना को अधिक से अधिक लोगों में प्रचलित करने के लिये इन मकारों का अर्थ ही बदल दिया। इस दृष्टि का (सुधारवादी) समर्थन करने वाले ग्रंथ हैं : पारानंद सूत्र, कुलार्णव, तन्त्रराज, कौलावलि तन्त्र, कौलावलि निर्णय, महानिर्वाण आदि।

सुधारवादियों के अनुसार पञ्चमकार (पंच तत्व)

महानिर्वाण (5/21-24)	**मद्य (सुरा)**	=	नारियल का जल, मत्त कर देने वाला अन्य पदार्थ।
कुलार्णव (5-69,79)			दूध, शहद, शरबत, गुड़, अदरक का रस।
	मांस	=	लवण, अदरक, गेहूँ, लहसन
	मत्स्य	=	साधक की मानसिक स्थिति जिसमें वह दूसरों के सुख-दुःख से सहानुभूति रखता है।
	मैथुन	=	मूलाधार में स्थित शक्ति का सहस्रार में परम शिव से सायुज्य।
	मुद्रा	=	चावल, धानी, चना, आशा, तृष्णा, भय, घृणा, घमंड, लज्जा। मुद्राएँ कष्टदायक हैं।

सुधारवादी ग्रंथों में मतैक्य नहीं है

सुधारवादी तान्त्रिक और ग्रंथकारों ने पञ्चमकार के मूल यथार्थवादी दृष्टिकोण को ब्राह्मणवादी तथा जैन व बौद्ध परंपरा के अनुकूल बनाने के लिये मकारों के अहिंसावादी तत्व दिये हैं, लेकिन ऐसे तान्त्रिक आपस में ही मेल नहीं खाते। उदाहरणार्थ केवल मद्य को लेते हैं :

महानिर्वाण (8/168)	–	तीर्थ वारि। इस ग्रन्थ में राजा को मद्यपियों को दंडित करने को कहा है।
	–	नारियल का जल, मत्त करने वाले अन्य पेय पदार्थ, ज्ञान।
कौलावलि निर्णय	–	भंग
शक्ति संगम तंत्र	–	कुण्डली जगाने में शक्ति की आह्लादमयी अनुभूति, (रस)।
कुलार्णव	–	नारियल का पानी, दूध।

यही नहीं, कुछ उत्साही ब्राह्मणवादी तान्त्रिक जैसे योगिनी तन्त्र में वर्णों के अनुसार मद्य का अर्थ बदल देते हैं:

ब्राह्मण	–	गुड़ व अदरक का रस मिलाना।
क्षत्रिय	–	कांसे के पात्र में नारियल का पानी।
वैश्य	–	कांसे के पात्र में मधु।

एक आधुनिक लेखक डॉ. डी.एन. बोस अपने ग्रंथ "तन्त्राज़, देअर फिलासफी एण्ड ऑकल्ट सिक्रेट्स (पृ. 110-111) में कहते हैं : "पञ्चमकारों के वास्तविक महत्व को दुष्ट प्रकृति के लोगों ने जानबूझ कर गंदा कर डाला है।" उनके अनुसार मद्य वह अमृतमय धारा है जो मस्तिष्क के उस कोश से फूटती है जहाँ आत्मा का निवास है।" कुलार्णव तन्त्र भी दो मन वाला लेखक है क्योंकि वह कभी पञ्चमकारों के अपने मूल रूप में, और कभी सुधारवाद के जोश में उनके अर्थ ही बदल देता है।

निष्कर्ष :

पञ्चमकारों के अध्ययन से कुछ बिंदु ऐसे उभर कर आते हैं जोकि भारतीय साधना के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

(अ) पञ्चमकारों की साधना का मूल बौद्धों की वज्रयानी शाखा में है जिसका पूर्ण विकास हिन्दू तन्त्रों में हुआ है। इसमें पञ्चमकारों को छुटपुट महत्व न देकर उन्हें एक समन्वित रूप में स्वीकार किया है। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन वामाचार के क्रमशः सोपान हैं। गुरु के निर्देशानुसार संयमित रूप से मद्य का सेवन कर मांस व मत्स्य का भोजन कर, एकाग्रता की मनः स्थिति होने पर विभिन्न भाव-भंगिमाओं (मुद्राओं) के साथ शक्ति (नारी) के साथ समरसता (मैथुन) स्थापित करना पड़ता है। पञ्चमकार की साधना मन को शक्ति एवं शिव के सामरस्य में स्थापित करने का साधन है। इनमें तनिक भी विषयी-भाव आने पर साधना व्यर्थ हो जाती है। इनका सेवन इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिये नहीं, वरन् इधर-उधर भटकते हुए मन को देवी के चरणों में केन्द्रित करने का है। अतः वामाचारी इनका भोक्ता होते हुए भी विषयी नहीं है। वह इन पदार्थों से असंपृक्त रहकर उनका सेवन करता है। इस स्थिति को गीता की भाषा में "न मां कर्माणि लिम्पन्ति" (IV-14) कह सकते हैं, अर्थात् कर्म में अहंकार (सुखानुभूति) का अभाव है, लेकिन गीता के विपरीत कर्मफल (मन का केन्द्रित होना) में लालसा या तृष्णा है। साधक-मन द्वैत से अद्वैत की मनःस्थिति की ओर बढ़ना चाहता है। अतः एकाग्रता की लालसा होना स्वाभाविक है। लेकिन कर्म के स्तर पर साधक को असंपृक्त होने की सतत कोशिश करनी चाहिये। अतः मद्य को पञ्चमकार की साधना में प्रारंभिक अंग मानना एक अत्यंत ऊँचे धरातल की भावना से है। दुरुपयोग व नैतिक पतन प्रत्येक स्थान पर संभव है।[1] लेकिन पथप्रदर्शक गुरु इसका जागरूक प्रहरी है।

---

1. कौलावलि निर्णय (संपादक एवलान), भारतीय विद्या प्रकाशन, 1985 में कथन है कि "पशु की तरह शराब पीने पर साधक नरक में जाता है। (पशुपानविधौ पीत्वा वीरोऽपि नरकं ब्रजेत - अध्याय 8-7।)

पञ्चमकार की साधना वामाचार की तन्त्र-साधना है। यह आगम-परंपरा की ऐसी बहु-प्रचलित साधना है जिसमें आशाओं, आकांक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये मन्त्र, यन्त्र, चक्र और सिद्धों के सहयोग का आश्वासन है। जन-साधारण के दैनंदिन जीवन में सुलभ और उपादेय साधना का प्रचलित होना आश्चर्य नहीं है। साधारणतया सुखप्रद भोग-सामग्री से प्रारंभ कर अध्यात्म की उच्च स्थिति प्राप्त करना किसे अच्छा नहीं लगेगा? ऐसी स्थिति में ब्राह्मणवादी परंपरा चुप नहीं बैठ सकती। पुराणों ने बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मान कर बौद्ध धर्मियों को समझाने का प्रयास किया कि "बुद्धं शरणं गच्छामि" और "कृष्णं शरणं गच्छामि" में कोई भेद नहीं है। इसी के साथ वेदनिष्ठ ब्राह्मण और साधना के लिये जिज्ञासु क्षत्रिय और वैश्यों ने बौद्धों के नैतिक मार्ग को अपनाया और अहिंसा को दैनिक जागतिक या आध्यात्मिक जीवन के लिये आवश्यक मान लिया। इससे एक ओर तो ब्राह्मण परंपरा का सामाजिक धरातल व्यापक हुआ, दूसरी ओर, तान्त्रिक साधना में, विशेषकर वामाचार में, नैतिकता का प्रवेश हुआ। इसी के फलस्वरूप पञ्चमकारों के स्थान पर अन्य द्रव्यों का सेवन आवश्यक माना। मैथुन का अर्थ शिव-शक्ति का सामरस्य और आत्मा का परमात्मा से मिलन हो गया। ब्राह्मणवादी परंपरा ने अर्थ परिवर्तन तो किया ही, साथ ही वर्णानुसार द्रव्यों में भेद कर दिया।

इस तरह के कृत्रिम प्रयास से यह कल्पना होती है कि वैदिक परंपरा के अंतर्गत ब्राह्मण परंपरा ने साधक समाज को नैतिक पतन से बचाकर उच्च स्थिति में पहुँचा दिया। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदाय बिना भेद-भाव या घृणा के पञ्चमकार की साधना अपना सकते थे।[1]

(ब) ब्राह्मण परंपरा ने बहु-प्रचलित तान्त्रिक साधना को अपनाया और उसे व्यापक आधान देने की कल्पना की, लेकिन साथ ही अपनी परंपरा की विशेषताओं को भी उस पर आरोपित किया। ये विशेषताएँ

---

1. भूतकाल का उपयोग करने के स्थान पर बिना अधिक विरोध के वर्तमान काल (हैं) का कथन भी किया जा सकता है, क्योंकि भारतीय समाज अभी भी उनके प्रभाव/दुष्प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ है।

थीं: चेतनावाद या ईश्वरवाद की जिज्ञासा को मूल मानना, ब्रह्म या ईश्वर, कारणवाद, सन्यासवाद, पुनर्जन्म, भाग्यवाद, वर्ण-व्यवस्था तथा उसमें ब्राह्मणों तथा द्विजों का वर्चस्व, शूद्रों के साथ अभद्र एवम् अमानवीय व्यवहार आदि। यह परंपरा मूल रूप से पितृ सत्तात्मक है जिसमें पुरुष की प्रधानता रहती है।

इसके विपरीत आगम परंपरा मातृसत्तात्मक है। इसका सीधा संबंध जन जीवन से है। एक दृष्टि से नारी के सत्तावान होने पर समाज में वर्गहीनता रहती है। वैदिक परंपरा के कथन भले ही नर-नारायण की या साम्य की बात करें, उसमें वर्ग भेद पैदा हो ही जाता है। पुरुष-प्रधान सभ्यता में सर्वप्रथम जनजाति के समुदाय का नेतृत्व पुरुष के हाथ में रहा, फिर वह सरदार या राजा कहलाया जिसे समुदाय के अन्य लोग अपनी कमाई का कुछ अंश भेंट करते थे। यही राजा बाद में राज्य का राजा बना जिसके पास एक विस्तृत भू-भाग था जिस पर वह शासन करता था। राजा ईश्वर का अंश मान लिया गया, इसलिये उसकी सत्ता सर्वमान्य होने लगी। कर्म के सिद्धांत ने जोड़ दिया कि भाग्य या पूर्वजन्म के कर्मों से ही कोई राजा होता है या राजा के घर पैदा होता है। ब्राह्मण वर्ण इस संस्था का रक्षक हो गया तथा सामाजिक व्यवस्था उसके हाथों में आ गई। वैश्य वर्ण का राजा तथा ब्राह्मण से इतना ही संबंध है कि वह उनके हितों में किसी प्रकार से बाधक न हो। शूद्र वर्ण सभी का सेवक, उत्पादक, ज्ञान व संपत्ति के अधिकार से वंचित था। नारी अधिकारहीन भोग्या बनी रही। चूँकि ब्राह्मण के हाथों में सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था थी तथा उसके पोषक क्षत्रिय थे, अतः यह सतत प्रयास किया जाता रहा कि सेवक अच्छा सेवक ही बना रहे, और उसकी मुक्ति सेवा से ही हो सकती है।

इस सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक शोषण के विपरीत आगम परंपरा धर्म, विज्ञान, भक्ति आंदोलन आदि के द्वारा जनता के अधिकांश भाग को जगाये रखकर सभी को मुक्ति की ओर प्रवृत्त करती रही थी। तान्त्रिक साधना का उद्‌भव भी इस परंपरा का महत्वपूर्ण पृष्ठ है। जाति, लिंग व संपत्ति की श्रेष्ठता को अस्वीकार कर सभी के लिये मुक्ति के द्वार खोल दिये। कोई भी उपयुक्त गुरु के निर्देशन में साधना कर सकता

है। इस मार्ग में एक विशेषता यह है कि इसमें भोग से योग में प्रवेश की या रजनीश के शब्दों में 'संभोग से समाधि की आरे जाने का मार्ग प्रशस्त किया।' वैदिक परंपरा के आरोपण से वामाचार के रूप में जो जन-जन का आंदोलन था उसमें उच्च वर्णों के प्रवेश से बाधा खड़ी हुई, क्योंकि वे अपने साथ वर्ण, लिंग, धन आदि की श्रेष्ठता साथ लाये थे। भक्ति-आंदोलन का उद्देश्य भी इन असमानताओं से मुक्ति दिलाकर उच्चतर चेतना में प्रवेश कराना था। आर्थिक समानता स्थापित करना संतों का उद्देश्य नहीं था, लेकिन वह इनके बस का रोग भी नहीं था। अत: भक्ति-आंदोलन में यद्यपि देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग मुक्ति की सांस ले रहा था, लेकिन अनेक बंधनों के साथ।

वैदिक परंपरा के आरोपण से तन्त्र को ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्राह्मण तो मिल गये, लेकिन उसके मूल उद्देश्य में बाधा उपस्थित हुई।

6

चक्र साधना

साधना बहुधा व्यक्तिगत रूप से होती है, लेकिन पञ्चमकार की साधना के एक प्रकार, चक्र-साधना या लता-साधना में कई साधक एक साथ मिलकर साधना करते हैं। एक विशेष बंधन यह है कि प्रत्येक साधक के साथ एक-एक साधिका जिसे भैरवी, मुद्रा, शक्ति, प्रकृति या लता भी कहते हैं, होती है। तन्त्र में मान्यता है कि प्रत्येक भैरव के साथ एक भैरवी होती है। अत: प्रत्येक-भैरव के साथ भैरवी रूपा नारी होती है। इनमें स्वपत्नी भी हो सकती है या अन्य भी।[1] रजकी, डोम्बी आदि निम्न जाति की नारी को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि चक्र पूजा में जाति का कोई बंधन नहीं है; किसी भी जाति की नवयुवती साधना में भाग ले सकती है। पारानंद सूत्र और कौलावलि निर्णय निकट संबंधी नारी को भी भैरवी बनाने में आपत्ति नहीं करते।

साधक लोग अपनी-अपनी भैरवियों के साथ रात्रि में किसी एक गुप्त स्थान पर एकत्रित होते हैं। एक यन्त्र बनाया जाता है और उसके आसपास भैरव अपनी भैरवी के साथ बैठ जाते हैं। यह यन्त्र देवी का प्रतीक है। मद्य को सेवन करने के बाद प्रत्येक भैरवी अपनी-अपनी चोली निकालकर एक बर्तन में डाल देती है। फिर एक-एक भैरव चोली निकालता है और जिस भैरवी की चोली होती है उसी के साथ मैथुन क्रिया सम्पन्न करता है। यह क्रिया यन्त्र के सामने अर्थात् देवी की साक्षी में ही की जाती है।

---

1. कौलावलि का मत है कि स्त्री हमेशा सिद्धिदात्री होती है।
"अनेन मनुना चैव अभिषिक्ता: स्त्रिय: सदा
रमामाणो भवेन्नित्यं सर्वसिद्धिमवाप्नुयात्, VIII-213 पंक्ति

साधना के इस बीभत्स स्वरूप ने कई विद्वानों एवं तान्त्रिकों को सोचने के लिये मजबूर किया है। 18वीं सदी के महानिर्वाण तन्त्र का मत है कि ये क्रियाएँ यथार्थ नहीं, प्रतीकात्मक हैं और मैथुन का अर्थ केवल अपने शरीर में ही पुरुष व नारी की कल्पना करना है। राजशेखर (8-9वीं सदी) की कर्पूर मंजरी (I-22), यशस्तिलक चंपू और मत्तविलास प्रहसन, क्षेमेन्द्र (11वीं सदी) के दशावतार चरित में भी चक्र साधना की आलोचना की गई है, यहाँ तक कि इस आलोचना में घृणा ही अधिक झलकती है।

डॉ. एन.एन. भट्टाचार्य का मत है कि ऐसी साधना में निस्संदेह रूप से 11-12वीं सदी के बिगड़ैल राजा और रईसों की कामुकता को संतुष्ट करने का एक धार्मिक तरीका निकाल लिया था। कल्हण की राजतरङ्गिणी में राजा कलश (1063-1089) का ऐसा उदाहरण दिया है (VII-278) जिसमें कलश अपने तान्त्रिक गुरु प्रमदकंठ के निर्देशन में इसी प्रकार के पापाचार किया करता था। प्रमदकंठ ने स्वतः ही धार्मिक साधना के बहाने अपनी कन्या से ही संभोग किया था।[1] दीवान जर्मनीदास ने अपनी एक पुस्तक में स्वतंत्रता के पूर्व ऐसे कई राजा-रजवाड़ों का उल्लेख किया है जोकि धर्म की आड़ में ऐसे व्यभिचार किया करते थे। आज भी ऐसे कई तान्त्रिक गुरु मिल जायेंगे जिनके आगे-पीछे कई सुंदर नारियाँ घूमा करती हैं जिनका कार्य अनैतिक मार्गों से धन-कुबेरों और राजनीतिज्ञों के कार्य संपन्न कराना रहता है। ये तान्त्रिक भी भगवाँ धारण करने के कारण समाज में पूज्य रहते हैं।

भोग, योग और मोक्ष

भारतीय चिंतन में सर्वोपरि उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। इसकी प्राप्ति के लिये अनेक दार्शनिक पद्धतियों एवं साधनाओं का मंडन हुआ है। प्रत्येक साधक के लिये यह संभव है कि वह इन पद्धतियों में अपने स्वभाव, क्षमता और रुचि के अनुसार मुक्ति का मार्ग खोज ले। साधना के क्षेत्र में भोग, योग एवं मोक्ष की अवधारणाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। बहुधा माना जाता है कि संसार भोग भूमि है जिसमें सुख-दुःख का द्वन्द्व लगा

---

1. हिस्ट्री आफ दी तान्त्रिक रिलीजियन, पृ. 122.

रहता है। इससे मुक्त होने के लिये संन्यासवादी भोग-त्याग या संसार से विरक्ति और संन्यास की बात करते हैं। यह संसार की अस्वीकृति है। यह अस्वीकृति एक दृष्टि एवं जीवन पद्धति में विन्यस्त है। योग ऐसी प्रक्रिया और साधना है जो एक ओर भोग को सफल कर सकती है और दूसरी ओर मोक्ष की ओर भी ले जा सकती है। लेकिन योग की मुख्य प्रवृत्ति संयम और संन्यास की ओर ले जाना है। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और मोक्ष जीवन सरिता के दो किनारे हैं जोकि आपस में नहीं मिलते। योग की नौका से जीवन सरिता में आनंद लिया जा सकता है और मोक्ष के किनारे भी लगा जा सकता है।

लेकिन तान्त्रिक साधना और विशेषकर पञ्चमकार और चक्र साधना में यह शरीर, इसकी क्षमताएँ (जोकि योग, हठयोग, रस-योग आदि से बढ़ाई जा सकती है) और जीते जी मोक्ष की अनुभूति प्राप्त करना महत्वपूर्ण मान्यताएँ हैं। तन्त्र विदेह-मुक्ति या मरने के बाद की कल्पना स्वीकार नहीं करता। इस दृष्टि में भोग योग और मोक्ष में कोई विरोध नहीं है। वैसे भी देखा जाये तो मोक्षवादी, संन्यासवादी या योगवादी कोई भी भोग के महत्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। समस्त शास्त्र, सिद्धांत, दर्शन और उपासना का प्रारंभ ही भोग के कारण आने वाले सुख दुःखों के द्वन्द्व से किस तरह मुक्त हुआ जाये, है। लेकिन इस बात को इस तरह नहीं कह सकते कि चूँकि भोग के साथ सुख-दुःख की अनिवार्यता है, अतः भोग को ही समाप्त कर दें। भोग समाप्त हो जाता है तो योग और मोक्ष अपने आप लुप्त हो जाते हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक अवसर पर न योग का अस्तित्व था न मोक्ष की अवधारणा थी; लेकिन भोग तो बराबर बना रहा था। इसको प्रारंभिक शिकारी जीवन कह सकते हैं। सामुदायिक जीवन पद्धति का प्रारंभ हो गया था, लेकिन उसमें योग और मोक्ष की अवधारणाओं का जन्म नहीं हुआ था।

संसार को भोग-भूमि और शरीर को भोगायतन कहने का तात्पर्य यह है कि भोगभूमि पर रहते भोग शरीर का स्वभाव है। आंखें देखती हैं और मुँह खाता, पीता और बोलता है; कान सुनते हैं, और नाक सूँघती है। ये क्रियाएँ प्राकृतिक या स्वाभाविक हैं, इन्हें सीखना नहीं पड़ता। नारी के

सहयोग से संतानोत्पत्ति करना यद्यपि स्वाभाविक है, फिर भी प्रक्रिया को पशुओं से सीखा है। भोग शरीर रक्षा के लिये आवश्यक है; भोग के बिना जाति रक्षा भी संभव नहीं है। महीनों से भूखे आदमी में कामोत्तेजना नहीं हो सकती। वह संतानोत्पत्ति के लिये भी अक्षम हो जाता है। अर्थात् बिना भोग के न स्वरक्षा न ही जाति रक्षा संभव है। इसी कारण भगवद्गीता में सरल एवं स्पष्ट शब्दों में कहा है: "मनुष्य को नियम कर्म करना चाहिये क्योंकि कर्म न करने से शरीर यात्रा भी नहीं चलेगी, III-8"। भोग कर्म है और बिना कर्म के भोग-वस्तु उत्पन्न या उपलब्ध हो नहीं सकती। मनुष्य चाहकर भी कर्म छोड़ नहीं सकता, क्योंकि एक भी क्षण ऐसा नहीं जाता जिसमें उसका शरीर, उसकी इन्द्रियाँ या मन कुछ नहीं करते (न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत, III-5)। सोना भी एक कर्म है, यह कर्म-शून्यता नहीं है।

इसका निष्कर्ष यह है कि संसार में शरीर का अस्तित्व आया है, और इसको बनाये रखना, इसकी विभिन्न क्षमताओं–शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक–को पूर्णता की सीमा तक विकसित करना भी जीवित शरीर का कर्तव्य हो जाता है। इस कार्य में सभ्यता और संस्कृति अपने विभिन्न रूपों में सहायक होती हैं। चिन्तन और साधना संस्कृति के उपादान हैं। योग और पञ्चमकार की साधना इसके महत्वपूर्ण अंग हैं। अत: ये दोनों मनुष्य की उद्देश्य पूर्ति में सहायक होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इनका दुरुपयोग नहीं हुआ है। यह तो प्रत्येक वस्तु या किसी भी नई खोज के पीछे लगा हुआ है।

इनका महत्व इससे प्रकट होता है कि योगशास्त्र के प्रवक्ता पतंजलि (जिनका समय ईसा पूर्व का काल है) के दो हजार वर्षों के बाद भी योग आज पूरे विश्व में अधिक आदृत एवं व्यवहृत है। इसी तरह 8-9वीं सदी की पञ्चमकार की खोज प्रच्छन्न तथा स्फुट रूप में आज भी प्रचलित है। आहार के मामले में मांसाहारी लोग पाप-पुण्य का प्रश्न नहीं उठाते। मदिरा सेवन करने वाले अपनी कुलदेवी को आज भी मदिरा का नैवेद्य अर्पित करते हैं। आज भी पशुओं की बलि दी जाती है, और प्रसाद रूप में उसके मांस को भक्त लोग ग्रहण करते हैं। देवदासी की प्रथा शताब्दियों

तक चलती रही, जोकि अब कानूनन बंद है। पञ्चमकार स्फुट रूप में या समन्वित रूप में आज भी प्रचलित है क्योंकि वे दैनंदिन जीवन से जुड़े हुए हैं।[1]

भोग में संयम बरतने पर भोगशक्ति बढ़ जाती है, शरीर की रक्षा होती है और भोग अधिक आनंददायक व दीर्घावधि तक चलता है। हठयोग की क्रियाओं या औषधि सेवन से भोग-क्षमता बढ़ाना प्रत्येक दृष्टि से—जागतिक हो या आध्यात्मिक—हानिकारक है। अतः योग साधना की अतियों में प्रवृत्त होना योगी के लिये हितकर नहीं है। यह निर्विवाद सत्य है कि केवल दीर्घ व स्वस्थ जीवन ही हमारे जीवन को श्रेयस्कर नहीं बनाता। वे तो संसार में जीने की प्रारंभिक शर्तें हैं। महान उद्देश्य की प्राप्ति में दोनों शर्तों की अनिवार्यता है। जब हम शरीर शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसमें मन, बुद्धि, अहंकार भी समाविष्ट हैं, अर्थात् शरीर के स्वस्थ होने का अर्थ मन, बुद्धि व अहंकार की शुद्धि भी प्राप्त हो। रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि, अहंकार व आत्मा में कोई भेद नहीं है। शुद्ध मन ही आत्मा है। इस कथन से जीवन में मन का महत्व प्रकट होता है। मन एक ओर तो इन्द्रियों और शरीर को चालना देता है, दूसरी ओर अहंकार और बुद्धि से पुष्टि के लिये याचना करता है। अहंकार एक बार मन के कार्य की पुष्टि कर सकता है, लेकिन बुद्धि से समर्थन प्राप्त करना कठिन हो जाता है। हमारे मन (मन के अनुसार की गई ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की गतिविधि—अर्थात् भोग) को बुद्धि का समर्थन दो स्थितियों में मिल सकता है। प्रथम, जब अहंकार व बुद्धि कार्यक्षम न होकर मन की हाँ में हाँ मिलाते हैं; दूसरे, जब मन व बुद्धि शुद्धता प्राप्त कर चुके हों। वास्तव में द्वितीय आदर्श है और प्रथम वास्तविकता। ये दोनों विरोधी नहीं हैं, प्रथम को संस्कारित करने के निरंतर प्रयास से द्वितीय की झलक मिलने लगती है। योग का कार्य भी प्रथम स्तर पर प्रारंभ होता है और द्वितीय स्तर की अनुभूति प्राप्त करवा कर समाप्त हो जाता है। जब वह अनुभूति क्षणिक झलक न होकर स्थायी

1. कई आधुनिक क्लबों में चक्रपूजा के आधुनिक संस्करण के नमूने मिलते हैं। पहिले साधना में संयम था, अब धन-केन्द्रित (साध्य दोनों रूपों में) होहल्ले में भोग का विस्फोट है।

ह़ोने लगती है तब जीवन्मुक्ति या मोक्ष की स्थिति बनती है। अतः भोग, योग एवं मोक्ष में विरोध नहीं है; भोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता है।

पञ्चमकार की विशेषता

पंचमकार की विशेषता इस तथ्य में है कि उसमें भोग से ही मोक्ष की सीढ़ियों पर चढ़ने का मार्ग बताया है। किसी तरह के तीर्थ, व्रत, उपवास, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, अवतार आदि उसके मार्ग में बाधक नहीं हैं। शरीर उसका साधन और साध्य भी है। साध्य इस रूप में कि जीवन्मुक्ति सशरीर होती है, और उसकी सुखानुभूति-आनंदानुभूति का साधन ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहम्, बुद्धि, भाव आदि सभी हैं जो शरीर को चालना देते हैं। मनुष्य का स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर (विचार, भाव, आदर्श, मन बुद्धि आदि) जब तक एक समवेत स्वर में नियोजित नहीं होते, तब तक दुःख, संत्रास, भय, ईर्ष्या आदि बंधनकारक तत्वों का बीज समाप्त नहीं होता।

इसी कारण पञ्चमकार खान-पान से प्रारंभ कर मैथुन में साधना की परिसमाप्ति मानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैथुन ही साधना का अंत या सर्वस्व है। यह क्रिया इस बात का एहसास कराने के लिये है कि जब मैथुन में पुरुष व नारी का सामरस्य होता है तब आनंद के सिवाय अन्य कोई द्वन्द्वात्मक अनुभूति नहीं होती। वे क्षण आनंद के तो नहीं हैं, लेकिन उससे यह कल्पना तो की जा सकती है कि जब किसी महान उद्देश्य से सामरस्य होगा तब अनवरत और अनवच्छिन्न सुख की प्राप्ति होगी। जो जिज्ञासु केवल मद्य, मांस व मैथुन के आकर्षण से इस ओर प्रवृत्त होते हैं उनका जीवन ही नष्ट हो जाता है।

पञ्चमकारों का सेवन गुरु एवं शास्त्रानुसार होता है। संयमहीनता के लिये साधारण जीवन में भी कोई स्थान नहीं है तो साधना में तो संभव ही नहीं है। ये साधनाएँ महत्वपूर्ण होती हैं, और बहुधा रात्रि में ही चलती हैं। साधक खान-पान व मैथुन में नैतिक बंधनों से मुक्त होता चलता है। मद्य पेय है, मांस आहार है, मत्स्य खाद्य पदार्थ और मैथुन मानव-सृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण और पवित्र सर्जनात्मक कृत्य है। अतः पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता। पाप मार्ग का पहरेदार गुरु होता है जो अपने शिष्य

को उसमें प्रवेश की अनुमति नहीं देता। साधना के क्षेत्र में आज्ञाकारिता, समर्पण और गुरु के प्रति गोविंद भाव नितांत आवश्यक हैं।

पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि पञ्चमकार की साधना उच्च वर्णों की अपेक्षा निम्न जातियों में अधिक प्रचलित हुई। उच्च वर्ण के अनेक लोगों ने भी साधना की सरलता एवं सिद्धियों की प्राप्ति की सहजता के लालच में इसे अपनाया था। उच्च वर्ण के लोग बौद्ध एवं जैनों के अहिंसावादी सिद्धांत से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मांसाहार व मद्यपान को पापाचार में शामिल कर लिया और ब्राह्मणवादी सिद्धांत से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मांसाहार व मद्यपान को पापाचार में शामिल कर लिया और ब्राह्मणवादी शास्त्र भी इसकी पुष्टि करते रहे। लेकिन जो व्यक्ति समाज पर भौतिक या आध्यात्मिक शासन बनाये रखना चाहता है, वह अधिकाधिक समाज को अपने साथ रखने के लिये अनेक मार्ग निकाल लेता है। स्मृतिकारों ने क्षत्रियों को ऐसे नियमों से छूट दे दी, क्योंकि उन्हें रणभूमि पर अपने दुश्मनों को हराना, मारना, हत्या करना, लूटना आदि सभी तरह की अमानवीय एवम् असामाजिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अतः उसके आत्मज्ञान और विश्व-मानवता की भावना को सुलाये रखने, और क्रूर से क्रूर कर्म करने के लिये उत्साहित किया जाता है। उन्हें युद्ध जीतने का मन्त्र सिखाया जाता है न कि अहं ब्रह्मस्मि का। क्षत्रिय के शास्त्रानुसार पापकर्म, पापकर्म के दायरे में नहीं आते। और यदि किसी की अंतश्चेतना सताये तो उसके लिये प्रायश्चित का प्रावधान हमेशा ब्राह्मणों के हाथ में रहता है। इसी तरह ब्राह्मणवादी परंपरा ने पञ्चमकार का अर्थ बदलकर प्रत्येक मकार के स्थान पर किसी फल का रस और अन्य पदार्थ रख दिये। मैथुन को भौतिक सीमा से उठाकर उसकी शक्ति-शिव या आत्मा-परमात्मा के सहस्रार में मिलने को बताया। इस तरह वामाचार का अपेय और अखाद्य का विरोध ही समाप्त कर दिया। यह वामाचार न रहकर दक्षिणाचार हो गया। ऐसे प्रयास पञ्चमकार के विकृत रूपों में सुधार लाने के प्रयास की अपेक्षा सुधारकों के जन-मानस, उनके दैनिक जीवन और खान-पान की आदतों के प्रति अज्ञान के सूचक हैं। इस साधना की मूल भावना के प्रति अज्ञान और विद्वेष ही ऐसे मूल कारण हैं।

साधना के प्रकार

साधक की रुचि, स्वभाव और क्षमता के अनुसार साधनाओं में भिन्नता आती है। एक कठोर शाकाहारी पञ्चमकार की साधना नहीं कर सकता। भीरु स्वभाव का व्यक्ति शव-साधना कर ही नहीं सकता। भावुक व्यक्ति बड़ी सहजता से भक्ति में तल्लीन हो जाता है, जबकि ज्ञानवादी को तर्क-सम्मत वेदांत ही रुचिकर हो सकता है। तन्त्र में इस मंतव्य के आधार पर साधना के अनेक प्रकार विकसित हो गये थे।

मोटे रूप से तो साधना के दो प्रकार हैं—दक्षिणाचार और वामाचार। वामाचार में पञ्चमकार की साधना प्रमुख है जबकि दक्षिणाचार इनसे मुक्त है। एक मत यह है कि दक्षिणाचार का निर्णय जन्म से होता है। जबकि वामाचार का दीक्षा से। कई विद्वानों ने आचार (साधना) के भेद माने हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार। कौलाचार के अंतर्गत पशु, वीर और दिव्य प्रकार की साधनाएँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार को दक्षिणाचार के अंतर्गत रखा जा सकता है, जबकि वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार को वामाचार के (प्राणतोषनी, VII-4; कौलावलि मार्ग रहस्य)।

उपर्युक्त 7 प्रकार के आचारों को साधकों की वृत्ति के अनुसार पशु, वीर और दिव्य में विभाजित किया गया है। वेदाचार को पशु के अंतर्गत रखा है। साधना का नाम है पश्वाचार। ये ऐसे साधक हैं जो पारंपरिक हिन्दू धर्म में विश्वास करते हैं जोकि वेद, स्मृति और पुराण के द्वारा निश्चित किया गया है। साधक को ब्रह्ममुहूर्त में जागकर इष्टदेव व गुरु को प्रणाम कर बीजमंत्र "ओम्" का जप करना चाहिये। खान पान में शुद्ध व सात्विक होना चाहिये। वैष्णवाचार में इन सब बातों के साथ मांस, मैथुन और निंदित कार्य त्याग देना चाहिये। विष्णु का पूजन करना तथा यह भाव रखना कि ईश्वर घट-घट में निवास करता है, आवश्यक है। गुरु पर पूर्ण विश्वास रखकर उनके आदेश का पालन करना चाहिये। शैवाचार में वेदाचार के अनुशासन के अतिरिक्त शिव-शक्ति की पूजा पशु की बलि देकर करना चाहिये।

अष्टांग योग की साधना करते हुए ध्यान और समाधि तक जाना चाहिये। यह विश्वास होना चाहिये कि शिव अन्तर्वासी हैं। वह ज्ञानमार्ग का अवलंबन ले सकता है। दक्षिणाचार में वेदाचार के अनुसार देवी की पूजा करना चाहिये। शैवाचार में वेदाचार के अनुशासन के अतिरिक्त शिव-शक्ति की पूजा पशु की बलि देकर करना चाहिये। अष्टांग योग की साधना करते हुए ध्यान और समाधि तक जाना चाहिये। लेकिन रात्रि को मदिरा का सेवन करके, होम करने के बाद देवी का मंत्र-जाप करना चाहिये। शक्ति के तीन रूपों-इच्छा, ज्ञान और क्रिया की प्रतीक स्वरूप दक्षिण कालिका की आराधना करना चाहिये। साधक को वर्णाश्रम व्यवस्था मानना चाहिये तथा अंतर और बाह्य रूप से शुद्ध जीवन बिताना चाहिये। (प्राणतोषनी, III-1,VII-1; 19वीं सदी 1821ई. का रामतोषण शर्मा कृत ग्रंथ)।

उपर्युक्त चार आचारों–वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार, जिन्हें बहुधा दक्षिणाचार के अंतर्गत रखा जाता है, पर ब्राह्मण परंपरा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है; जैसे वेद, स्मृति के द्वारा निर्दिष्ट वर्णाश्रम व्यवस्था व आचरण के नियमों का पालन, पुरुष देव विष्णु व शिव को इष्ट मानना और वैदिक मन्त्रों के जप, साधना के आवश्यक अंग हैं। केवल शैवाचार व दक्षिणाचार में देवी की पूजा की अनुमति है। वैष्णवाचार में मैथुन, मांस व मदिरा की अनुमति नहीं दी है। लेकिन शैवाचार में पशु बलि की अनुमति है और दक्षिणाचार में मन्त्र जाप के पूर्व मदिरा-सेवन किया जा सकता है। उपर्युक्त चर्चा का आधार 'प्राणतोषनी' नामक तन्त्र ग्रंथ है जोकि 19वीं सदी का है। इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों की अहिंसा व कुछ आचार नियमों का प्रभाव केवल वैष्णवों तक सीमति था। कई स्मृतिकारों और पुराणकारों व कई तान्त्रिक लेखकों के प्रयासों के बाद भी साधना में बलि प्रथा, मांस व मदिरा सेवन 19वीं सदी तक बना रहा। यही कारण था कि वामाचार विशेषकर पञ्चमकार और चक्र साधना को जन-जीवन से बहिष्कृत नहीं किया जा सका। वामाचारी संप्रदाय उपर्युक्त दक्षिणाचारों का कटु आलोचक है।

वामाचार के मेरुतन्त्र के अनुसार 5 प्रकार हैं : शाबर, सिद्धान्त, चीन, वाम और कौलिक। शक्तिसंगम तन्त्र (तारा खण्ड, I-02-94) जोकि 16-17वीं सदी का ग्रंथ है, के अनुसार गणेश, रुद्र, विष्णु, शिव, स्वयंभू, वेद, भैरव, क्षेत्रपाल, चीन, कापालिक, पाशुपत, बौद्ध, केरल, वीर-वैष्णव, शांभव, चान्द्र अघोर आदि में वामाचार की साधना की जाती है। इस साधना के सामान्य रूप के अनुसार देवी की पूजा दिन में की जाती है, लेकिन तांत्रिक पूजा, विशेषकर पञ्चमकार के साथ, केवल रात्रि में ही होती थी। साधकों को वैदिक कर्म कांड से मुक्त होना चाहिये और विष्णु का नामोच्चार तक नहीं करना चाहिये। तुलसी दल का स्पर्श भी वर्जित है। जाति प्रथा व ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में ये लोग विश्वास नहीं करते। मांस व मदिरा इनके लिये अखाद्य एवम् अपेय नहीं हैं। पञ्चमकार में स्वपत्नी या अन्य नारी के साथ मैथुन की अनुमति है। निम्न जाति जैसे रजकी, डोम्बी आदि अधिक उत्तम हैं। इस साधना में साधारणतया ब्राह्मणों को दीक्षा नहीं दी जाती। लेकिन जिन्होंने श्रौताचार या वैदिक मार्ग छोड़ दिया है या उससे पतित हो गये हैं और जो निर्भय हैं, वे इसमें दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। महाकाल संहिता और वाड़वानलीय तन्त्र के अनुसार वामाचार और कौलाचार केवल शूद्रों एवं निम्न जातियों के लिये हैं। उच्च वर्ण या द्विज दक्षिणाचार की साधना कर सकते हैं। सिद्धान्तसार का मत है कि यदि कोई ब्राह्मण कौलाचार (ब्राह्मण्यहानि हेतुत्वात् कुलाचरं न चाचरेत्) की साधना करने से ब्राह्मण नहीं रहता। वामाचार से शूद्र और यवन को मुक्ति मिल सकती है। (शूद्रादि यवनान्तानां सिद्धिः वामपथे स्थिता)।

वामाचार व दक्षिणाचर की महाविद्याएँ-देवियाँ

15-16वीं सदी के ग्रंथ शक्ति संगम तन्त्र के अनुसार 16 महाविद्याएँ हैं; तन्त्रसार (17वीं) के अनुसार 12 तथा सामान्य रूप से 10 महाविद्याएँ मानी जाती हैं जो सभी तन्त्र की देवियाँ हैं। इनमें से दक्षिणाचार की कमला, भुवनेश्वरी, बाला और धूमावती हैं। वामाचार से प्रसन्न होने वाली काली, तारा, सुंदरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, मातंगी और बगला (बगलामुखी)।

वामाचार के प्रकार

सिद्धान्ताचार : इसमें पञ्चमकारों का महत्व गौण है। अपने अंतर को शुद्ध करने की क्रियाएँ (अंतर योग) करना आवश्यक है।

समयाचार : भास्कर राय समयाचार को श्रीविद्या का एक प्रकार मानते हैं; अन्य दो हैं कौल और मिश्र। समयाचार की साधना ब्राह्मणों के लिये वर्जित है; लेकिन फिर भी कुछ ब्राह्मण इसे अपनाते हैं वे सुभागगम पञ्चक को अपना आधार ग्रंथ मानते हैं। सौंदर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर के अनुसार अलग-अलग वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न तान्त्रिक ग्रंथ हैं। महामाया, शम्बर, योगिनी जाल, कालभैरव, कुण्डिकामत आदि 64 ग्रंथ शूद्रों के लिये हैं।

समयाचारी के लिये समया शक्ति है और समय शिव। दोनों में कोई बड़ा छोटा नहीं है। वे अंतर्योग पर बल देते हैं तथा मानते हैं कि समया और समय का सहस्रार में सामरस्य स्थापित होता है। ये जप, पुरश्चरण और अन्य रीतियों पर बल नहीं देते। परशुराम कल्पसूत्र की टीका में रामेश्वर समय को कुलशास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित मत मानते हैं। उसके अनुसार यह गुप्त साधना है (समयोगुप्तः संकेतः शास्त्रपद्धति)। इस साधना के 7 सोपान हैं : आरम्भ, तरुण, यौवन, प्रौढ़, तदन्त, उन्मन और अनवस्था। इनमें से प्रथम 4 समयाचार हैं और अंतिम 3 स्वैराचार। समयाचार में गुरु दीक्षा, शास्त्र अध्ययन आदि शामिल हैं, जबकि ध्यान केन्द्रित करना व परमतत्व की अनुभूति प्राप्त करना स्वैराचार के अंतर्गत आता है।

कौलाचार : कुल का अर्थ है शक्ति और अकुली का शिव (कुलं शक्तिः इति प्रोक्तम् अकुलं शिव उच्यते)। कौल साधक का उद्देश्य है शिव-शक्ति का सामरस्य अनुभव करना। अभिनवगुप्त का मत है कि 'कुल' पूर्ण संवित् (परम तत्व की अनुभूति) का पूर्व सोपान है। कुल का अर्थ मूलाधार चक्र और सुषुम्ना भी होता है। मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी कौलिनी या कुलयोषित् भी कहलाती है। जब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सभी चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में चन्द्रमण्डल में प्रवेश करती है, तब सहस्रार में साधक कुलामृत से स्नान करता है।

रुद्रयामल 10वीं सदी का एक महत्वपूर्ण तान्त्रिक ग्रंथ है। इसके अनुसार कौलाचार में कुलस्त्री, कुलगुरु व कुल-देवी की पूजा आवश्यक है। इस ग्रंथ में वशिष्ठ के चीन जाने और वहाँ से बुद्ध से वामाचार की शिक्षा ग्रहण करके भारत आने की कथा विस्तार से दी हुई है। यद्यपि कई

विद्वान् रुद्रयामल और ब्रह्मयामल की कथा से सहमत हैं, लेकिन तथ्यों के आधार पर यह मत उचित नहीं ठहरता। वज्रयान के अंतर्गत ही वामाचार साधना का विकास भारत में हुआ था, और जिसके मूल बीजरूप में वेदकाल से रुद्रयामल के समय तक भारत के जन-जीवन में प्रचलित थे।

वशिष्ठ की कथा से ज्ञात होता है कि कौलाचार वेदाचार के बाह्य है। जो लोग वेदमार्ग से बहिष्कृत हैं वे ही ऐसी साधना करते हैं। सौंदर्यलहरी और देवी भागवत में इसे अपवित्र एवम् अनादृत माना है। जैसा कि बहुधा होता है कि प्रारंभिक घृणा के पश्चात् घृणा करने वाले ही घृणित से कई बातें ग्रहण कर लेते हैं। कुलार्णव तन्त्र ग्रंथ में ऐसे समन्वय की बात पाई जाती है। इसके अनुसार "दैविदैको पठ पीठ", कौलाचार की साधना में "युक्ताहार विहार सर्वलोक मनोहरा नारी की आवश्यकता है जिसके दर्शन मात्र से मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाये। ब्राह्मणी, यवनी के सिवाय सजातीया सर्वदा ग्राह्य है। विदग्धा, रजकी और नापिती ग्राह्य है।"[1]। शिव ऐसी बात कहकर इसे वेद के अनुकूल ही मानते हैं। ऐसे साधक उनके व देवी के अत्यंत ही समीप हैं (वेदशास्त्रोक्त-मार्गेण कुलपूजां करोति यः तत्समीपस्थितं मां त्वां विद्धि नान्यत्र भाविनि)।

कौलाचार दो प्रकार के हैं : प्रथम साधना का वह प्रकार है जिसमें पञ्चमकार शामिल है और द्वितीय पञ्चमकार रहित (प्राणतोषनी, VII-4)। लक्ष्मीधर एक भिन्न व्यवस्था देते हैं। उनके अनुसार दो प्रकार हैं : पूर्वकौल (जो शिव-शक्ति के सामरस्य में विश्वास करते हैं) और उत्तरकौल (जो केवल शक्ति के उपासक हैं)। पूर्वकौल आधार चक्र के त्रिकोण को प्रतीकात्मक के स्थान पर वास्तव में योनी की पूजा करते हैं।

कौलाचार की साधना की आवश्यक शर्तें

महानिर्वाण तन्त्र के अनुसार कौलाचार की साधना बिना जाति व लिंग के भेदभाव के सभी के द्वारा की जा सकती है। चांडाल और यवन भी इसके अधिकारी हैं। कौल के लिये सभी स्त्रियाँ मातृवत हैं; कौल के द्वारा ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जाना चाहिये जिससे स्त्री नाराज हो। शक्ति संगत तन्त्र (XIV-184, 187) ने इस मत का इस तरह प्रतिपादन किया है :

नारी तीन लोकों की जननी है, वह इन लोकों की प्रतिनिधि है। वह तीनों लोकों का शरीर है और वे इस शरीर के ही अंग हैं। पुरुष हो या नारी सभी में नारी ही श्रेष्ठ है। वह विश्व में व्याप्त सौंदर्य की जननी है। नारी से अधिक अच्छा मित्र कोई नहीं है। नारी पुरुष का सबसे बड़ा भाग्य है। तप, तीर्थ, योग और जप सभी से नारी श्रेष्ठ है।

नित्योत्सव नामक तन्त्र ग्रंथ (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, खंड XXIII) के अनुसार उसी व्यक्ति को कौलाचार स्वीकार करना चाहिये जो शरीर व मन से स्वस्थ, स्वार्थरहित, जितेन्द्रिय और अटल विश्वासी हो। साधना प्रारंभ करने के पूर्व साधक को अपने गुरु से संकेत-ज्ञान (मार्गदर्शन) प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सभी तीर्थ और समस्त देवगण कौल के शरीर में स्थित हैं। सृष्टि में जो कुछ देखा व सुना जाता है वह सब शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। उसे अपने ज्ञान को गुप्त रखना चाहिये। उसे सत्यवादी, परोपकारी व दूसरे के दोषों को गुप्त रखने वाला होना चाहिये। उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में आदर्श व्यक्ति होना चाहिये।

वामाचार साधना के पक्ष व विरोध में अनेक तन्त्र ग्रंथों में लिखा है। लेकिन एक बात ध्रुव सत्य है कि इसमें वैदिक विचार व साधना को आगे बढ़ाते हुए भी ब्राह्मण-परंपरा के प्रति विरोध को कभी नहीं छिपाया, जाति-भेद और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को अस्वीकार किया। साधना के द्वार सभी के लिये खोल दिये। इसमें एक नये ही दृष्टिकोण का आविष्कार हुआ कि मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा व मैथुन जिनको जैन, बौद्ध तथा इनसे प्रभावित कुछ उच्च वर्ण साधना के लिये अशुभ मानते हैं, वे ही तत्व गुरु के निर्देशन में साधना के पोषक-तत्व सिद्ध हो गये। पञ्चमकार धर्म की आड़ में असीमति रूप से लोलुप इन्द्रियों को तृप्त करने के साधन नहीं हैं। गुरु यह जानता है कि साधक को संयमित रहकर कितना, कैसे और किन मन्त्रों से पवित्र करते हुए इनका सेवन करना चाहिये। इन तत्वों की अनुमति देने से निम्न-वर्णों को सुविधा हो गई, क्योंकि वे मांस-मदिरा को दैनिक जीवन में वर्जित नहीं मानते। प्रश्न केवल संयम का है जिसकी पूर्ति गुरु करता है।

---

1. गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक साहित्य, पृ. 148

7

दस महाविद्याओं का उद्भव

हिन्दू तन्त्रों के वक्ता शिव हैं और श्रोता उनकी पत्नी। इस कारण सप्तमातृका, 9 दुर्गा, 64 योगिनी या 10 महाविद्याओं के उद्भव का वर्णन शिव और उनकी पत्नी की जीवन-गाथा में मिल सकता है। हिन्दू धर्म में अधिकांश देवता विवाहित एवं गृहस्थाश्रमी हैं। शिव ही एक ऐसे बिरले देव हैं जिनके दो विवाह हुए : प्रथम, दक्ष कन्या सती से, और द्वितीय हिमालय पुत्री पार्वती (अम्बिका, गौरी) से। सभी देवताओं में शिव का चरित्र अलौकिक है जो उनके चरित्र, वेशभूषा, स्वरूप, संगी-साथी और अनुयायी, उनका निवास आदि से प्रकट होता है।

भारत का प्राचीन इतिहास पौराणिक पुराकथाओं (मिथकों) में गुम्फित है। आवश्यकता इस बात की है कि इन मिथकों का विशलेषण किया जाये और उसके आधार पर तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व दार्शनिक समस्याओं का मंडन किया जाये। इन महाविद्याओं का तन्त्र साधना में अत्यंत महत्व है। तत्संबंधी पुराकथा इस प्रकार है।

शिव-पत्नी सती के पिता दक्ष-प्रजापति ने एक बार विशाल यज्ञ किया। दक्ष आर्य सभ्यता के प्रतिनिधि राजा थे जिनकी राजधानी कनखल में उस यज्ञ का आयोजन था। शिव हिमालय पर्वत पर रहने वाले मूल भारतीय गिरिजनों के प्रतिनिधि थे। यह उस काल की कथा है जबकि आर्य और भारतीय आदिवासियों के बीच सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध स्थापित नहीं हुए थे। शिव विलक्षण व्यक्तित्व के देवता थे जो ज्ञान-संपन्न, परम त्यागी और निस्पृह देवता थे। उनसे आर्यों के देवता

ब्रह्मा बड़े प्रभावित थे। वे भविष्य-द्रष्टा भी थे। उन्होंने ही आर्य और आदिवासी को एक-दूसरे के समीप लाने व समाज की समृद्धि की दृष्टि से शिव का विवाह दक्ष-पुत्री सती से करा दिया।

एक बार जब दक्ष ने यज्ञ किया तब दक्ष ने जानबूझकर शिव को निमंत्रित नहीं किया। शिव ने एक बार देवताओं की सभा में जब दक्ष आये तब सभी देवता सम्राट के सम्मान में खड़े हो गये, शिव बैठे ही रहे। इसे दक्ष ने अपना अपमान समझा। दूसरा महत्वपूर्ण कारण था शिव का आदिवासियों का देव होना। लेकिन यह निर्विवाद था कि शिव का सती के साथ गृहस्थी जीवन आनंद से बीत रहा था। लेकिन भारतीय सभ्यता में पिता के घर कोई सा भी पुण्य कार्य होता है तब बेटी-जमाई सर्वाधिक समादृत अतिथि रहते हैं। दक्ष ने जब निमंत्रण ही नहीं दिया तब शिव का लौकिक दृष्टि से भी जाना उचित नहीं था, और वैसे ही उनका उदासीन स्वभाव था। लेकिन बेटी कैसे मानती? वह पिता के बिना बुलाये भी अपने मायके जाकर पिता का वैभव देखने और अपनी माँ, बहन व अन्य रिश्तेदारों से मिलने के लिए उत्सुक थी। शिव ने सती के अनुनय विनय करने पर भी अनुमति नहीं दी। तब सती को क्रोध हुआ, और उसने काली का भयंकर रूप प्रकट किया। शिव काली के रूप को देखकर भयभीत हो गये और वे इधर-उधर भागने लगे। लेकिन जिस दिशा में शिव बचकर निकलना चाहते थे उसी ओर भयानक देवियाँ उनका मार्ग रोक देती थीं। शिव ने भयाक्रांत होकर सती को खोजना प्रारंभ किया। तब काली ने नम्र शब्दों में शिव को संबोधित करते हुए कहा, "महादेव ! तुम यह कैसे भूल गये कि मैं ही तुम्हारी, विष्णु और ब्रह्मा की जननी हूँ। मैंने ही तुमको जन्म दिया है और मैं ही सृष्टि का संहार करती हूँ। तुम्हारा विवाह कैसे हुआ, यह भी भूल गये? एक बार प्रलय के बाद जब तुम सृष्टि के सृजन की चिंता में मग्न थे तब मैंने एक मृत शरीर का रूप लिया जो नदी के पानी में सड़ गया था। मैं बहती-बहती विष्णु के पास पहुँची, वे अत्यंत घृणास्पद शरीर को देखकर स्पर्श नहीं कर पाये। तब मैं ब्रह्मा के पास गई, वे मेरे सड़े शरीर और दुर्गंध को देखकर ही भाग गये। अंत में मैं तुम्हारे पास पहुँची, तुमने सहर्ष मुझे अंगीकार कर लिया। मैं प्रकृति थी और मैंने

तुमको पुरुष रूप में स्वीकार किया। फिर हम दोनों ने मिलकर सृष्टि का सृजन किया। यह सुनकर शिव का भय दूर हो गया और सभी दिशा की देवियाँ अन्तर्धान हो गईं। शिव ने सती को दक्ष-यज्ञ में जाने की अनुमति दे दी।

इस पुराकथा के तीन महत्वपूर्ण आधार हैं :

(अ) शक्ति को अद्वैत तत्व मानने पर यह स्वीकार करना होगा कि एक ही देवी-सती काली के अनेक रूप हुए दसों दिशाओं में दिखाई दे रहे थे। उनका उग्र रूप इसलिये था कि सती शिव से अनुमति न मिलने पर अप्रसन्न थी।

(ब) दस महाविद्याओं का संबंध दस दिशाओं-उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, अध और ऊर्ध्व-से है। अर्थात् शिव को बचने के लिये एक भी कोना नहीं रहा। तन्त्र में प्रत्येक दिशा की एक देवी और एक देव (भैरव) होता है।

(स) ब्रह्मा की अनुशंसा पर सती का विवाह शिव से हुआ था, क्योंकि वे (शिव) ही प्रकृति तत्व के ज्ञाता थे। प्रकृति में भले-बुरे, देव-राक्षस, पुष्प-मिट्टी का भेद नहीं होता। सभी प्रकृति के ही रूप हैं। सड़ा हुआ मुर्दा भी प्रकृति का ही रूप है। जब घृणास्पद वस्तु को देखकर ब्रह्मा स्वतः भाग खड़े हुए थे, तभी शिव ने उसे अंगीकार किया था।

शिव अकेले एक ऐसे देवता हैं जिन्हें राजा-रंक, महल-श्मशान, स्वर्णाभूषण-सर्पभूषण, ऐश्वर्य-दरिद्रता, आर्य और अनार्य में कोई भेद नहीं लगता। उनकी कल्याणकारी समदृष्टि से ब्रह्मा अत्यंत प्रभावित थे। वे अन्तर्दृष्टि से सती के वैभव को भी जानते थे, इस कारण उन्होंने सती का विवाह शिव से करा दिया था। लेकिन दक्ष को अपने आर्य होने और साम्राज्य के वैभव का अहंकार था, अतः उसे ब्रह्मा ने ही नष्ट करवाने की योजना से वैवाहिक कार्य संपन्न करवाया था।

महाविद्याओं की संख्या

बहुसंख्यक तान्त्रिक संख्या 10 मानते हैं यथा : काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और

कमला। लेकिन कई ग्रंथकारों ने इनके नाम व संख्या में भिन्नता बताई है। उदाहरणार्थ, 17वीं सदी के प्रसिद्ध तान्त्रिक कृष्णानंद भट्टाचार्य विरचित ग्रंथ तन्त्रसार में दो पूर्व ग्रंथों मालिनी विजय और मुण्डमाला के आधार पर दो अलग-अलग सूचियाँ दी हैं। प्रथम में काली, तारा, महादुर्गा, त्वरिता, छिन्नमस्ता, वाग्वादिनी, अन्नपूर्णा, प्रत्यंगिरा, कामाख्यावासिनी, बाला मातंगी और शैलवासिनी, कुल 13 (सम्मोहन तन्त्र में यह संख्या 16 है यह ग्रंथ 14वीं सदी का है); द्वितीय में काली, तारा, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, षोडशी और कमला, (कुल 10)। इन दो सूचियों में द्वितीय के नाम और संख्या अधिक प्रचलित हैं। प्रथम व द्वितीय सूची में केवल काली, तारा, छिन्नमस्ता, मातंगी (कुल 4) समान हैं; लेकिन प्रथम सूची में शेष 8 नाम बिल्कुल नये हैं। इस भिन्नता का कारण यह हो सकता है कि मालिनी विजय तन्त्रसार के पूर्व की कृति है, जिसका उल्लेख विष्णुक्रांता के अनुसार 64 तन्त्रों की सूची में है। अभिनव गुप्त ने 10-11वीं सदी में इस पर एक "मालिनी विजय वार्तिकम्" नामक ग्रंथ लिखा है। यह संभव है कि 10-11वीं सदी में महाविद्याओं के नाम से प्रथम सूची की 12 देवियाँ प्रचलित रही हों, जोकि मुण्डमाला तक आते-आते 10 ही रह गईं हों। इन्हीं दस को तन्त्रसार ने दूसरी सूची में दिया है।

उपर्युक्त सूचियों में संख्या-भेद और नाम-भेद का कारण मालिनी विजय तथा मुण्डमाला में कुछ शताब्दियों का अंतर होना है। मालिनी विजय 10वीं सदी तथा मुण्डमाला 17वीं सदी के पूर्व की कृति है। 6-7 सदियों में जितना तान्त्रिक साधना और साहित्य में विकास हुआ है, आश्चर्यजनक है। 10वीं सदी के ग्रंथ रुद्रयामल में महाविद्याओं का उल्लेख है, लेकिन संख्या का निश्चय नहीं। यह संकेत किया जा चुका है कि तन्त्रसार की दोनों सूचियों में काली, तारा, छिन्नमस्ता और मातंगी समान रूप से सम्मिलित हैं। इसका अर्थ यह है कि तन्त्र-साधना में मालिनी विजय के काल में ये चारों देवियाँ स्वीकृत थी, और शेष 8 के समावेश में वैष्णव, शैव और शाक्त संप्रदाय का प्रभाव दिखाई देता है। यह स्पष्ट है कि शैव व शाक्त तन्त्र के अत्यधिक समीप हैं, लेकिन तन्त्र

का लोकोपारी हित-साधन पक्ष, न्यास, यन्त्र, मन्त्र, कुण्डलिनी योग आदि तान्त्रिक साधना के विशेष तत्व हैं। इन तत्वों को उपयोगी मानकर यद्यपि सभी संप्रदायों ने अपने में समाविष्ट कर लिया है, लेकिन इनका प्रारंभ तान्त्रिक साधना में प्रमुख रूप से हुआ है। ये तत्व अन्य संप्रदाय ग्रंथों में गौण रूप से आते हैं।

दूसरी सूची में महादुर्गा एक महाविद्या है। यह सप्तशती की महिषासुर मर्दिनी दुर्गा ही है जिसका निर्माण वैदिक देवताओं (इन्द्र, वरुण, वायु, प्रजापति), वैष्णव एवं अन्य पौराणिक देवताओं (विष्णु, ब्रह्मा, कुबेर, विश्वकर्मा, शेषनाग, यम), शैव संप्रदाय के शिव आदि के सम्मिलित तेज से (एकस्थं तदभून्नारी, सप्तशती-II-13) एक तेजस्वी नारी दुर्गा का निर्माण हुआ। शोडसी, शैलवासिनी व अन्नपूर्णा भी शैव संप्रदाय से हैं। कामाख्यावासिनी मूल रूप से शाक्त संप्रदाय की देवियां हैं। मालिनी विजय के ग्रंथकार ने इस सूची में सभी संप्रदायों में समन्वय दृष्टि का परिचय दिया है, क्योंकि उसने तान्त्रिक महाविद्याओं में सभी को स्थान दिया है।

10 महाविद्या वाली दूसरी सूची में समन्वय का अभाव नहीं है, लेकिन तन्त्र की मुख्य दृष्टि अधिक प्रबल है। तारा बौद्ध तन्त्र से ली गई हैं; मातंगी मूल रूप से आदिवासी मातंग निषाद, चाण्डाल, पुक्कस, श्वपच आदि की है। मातंगी सप्तशती में 7वें अध्याय में ध्यान की देवी है। कमला या लक्ष्मी को बौद्ध एवं जैन तन्त्रों में महाविद्या गिना गया है। प्रतीत होता है कि यह सूची तान्त्रिक दृष्टि के साथ अधिक मेल खाती है। इसी कारण तन्त्रसार के बाद तान्त्रिक ग्रंथों में 10 महाविद्याओं के ही नाम दिये गये हैं।

कई तान्त्रिकों के अनुसार 10 महाविद्याओं में कुछ उग्र जैसे काली, तारा, छिन्नमस्ता, बगला व भैरवी व सौम्य जैसे भुवनेश्वरी, धूमावती, त्रिपुरसुंदरी, षोडशी व मातंगी हैं।

महाविद्याओं का वर्णन

तन्त्र में महाविद्याओं का महत्वपूर्ण स्थान है। अधिकतर साधकों की साधना किसी एक महाविद्या पर केन्द्रित रहती है। साधना के चुनाव में साधक के स्वभाव, क्षमता, रुचि और उद्देश्य को ध्यान में रखकर गुरु

निर्देशित करता है। इन महाविद्याओं की रूपगत भिन्नता तो है ही लेकिन न्यास, कवच, मन्त्र, यन्त्र पीठ आदि की भी भिन्नता है। जैसे बगलामुखी के मंदिर प्रत्येक स्थान पर नहीं है, केवल दतिया में एक सिद्धपीठ है और नलखेड़ा नामक मध्यप्रदेश के एक ग्राम में एक मंदिर है। छिन्नमस्ता के मंदिर साधारणतया नहीं मिलते। तान्त्रिक साधना में महाविद्या के मंदिर या सिद्धपीठ का महत्व है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि तन्त्र साहित्य में महाविद्याओं पर ग्रंथों की संख्या कुल 11 दी है। लेकिन पृथक पृथक महाविद्या पर भी अलग से ग्रंथों का निर्माण हुआ है। अकेली काली पर उपलब्ध 54 ग्रंथों की सूची दी गई है। (कविराज कृत तान्त्रिक साहित्य में)। यह सूची सबसे बड़ी है, अन्य महाविद्याओं पर ग्रंथों की संख्या कम ही है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना होगा कि कई ग्रंथ किसी वृहद् ग्रंथ के अंशमात्र हैं, और कई बड़े विश्वकोशीय ग्रंथ भिन्न-भिन्न मौलिक तन्त्र ग्रंथों से सामग्री लेकर संपादित किये गये हैं। इन ग्रंथों की भरमार 16वीं सदी से 18-19वीं सदी तक लगातार होती रही। अतः केवल उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर किसी मौलिक विचार को प्रस्तुत करना अत्यंत ही कठिन कार्य है। एतदर्थ प्रस्तावित यह है कि महाविद्याओं के संबंध में संक्षिप्त रूप में आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाये।

काली : दस महाविद्याओं में प्रथम और बहु-प्रचलित है। काली के जितने भेद-प्रभेद ग्रंथकारों ने माने हैं, अन्य किसी देवी के नहीं। इसी तरह जितने ग्रंथ काली संबंधी मिलते हैं, अन्य किसी भी देवी के नहीं हैं। काली के प्रादुर्भाव संबंधी कई मत हैं।

(अ) मतङ्ग ऋषि के आश्रम में देवताओं ने महामाया का स्तवन किया। देवी ने जब दर्शन दिया तब उनका विग्रह काले पहाड़ के समान काली दिव्य नारी का था। इस तरह काली नाम पड़ा।

(ब) नारद पाञ्चरात्र के अनुसार एक बार काली ने गौरी बनने का सोचा, और वे अन्तर्धान हो गईं। शिव ने नारद् को गौरी के पास भेजा और नारद ने उनके समाने शिव से विवाह करने का प्रस्ताव किया। गौरी नाराज हो गई और उनकी देह से षोडश प्रकट हुई। इनसे छाया विग्रह त्रिपुर भैरवी का जन्म हुआ।

(स) दुर्गा सप्तशती के अध्याय-5 में शुंभ-निशुंभ को मारने के लिये पार्वती के शरीरकोश से अम्बिका प्रकट हुई, उन्हें कौशिका भी कहा जाता है। कौशिका से प्रकट होने के बाद पार्वती देवी का शरीर काले रंग का हो गया, अतः वे हिमालय पर रहने वाली कालिका देवी के नाम से विख्यात हुईं। इस पुराकथा में कालिका वास्तव में पार्वती ही हैं। शुंभ-निशुंभ का वध इन्हीं ने किया (श्लोक 84 से 88)। इसमें कालिका के कृष्णवर्ण के कारण ही वे कालिका हैं। सप्तशती के अनुसार महाकालिका ध्यान की देवी है (अध्याय प्रथम)।

(द) दार्शनिक व्याख्या के अनुसार कालिका शिव का प्रकट रूप अर्थात् शक्ति है। शक्ति अनादि और अनंत है। जैसे आकाश व समुद्र अनादि व अनंत होने के कारण नीले (काले) दिखाई देते हैं, उसी तरह कालिका भी अपनी अनंत शक्तियों के कारण काली दिखाई देती हैं। वे निर्गुण ब्रह्म की पर्याय हैं। वे ही महानिर्गुण होकर काली हैं।

काली का स्वरूप

काली के स्वरूप संबंधी अनेक वर्णन मिलते हैं। लेकिन सप्तशती में ध्यान की देवी महाकाली का जो वर्णन है वह अधिकांश में मान्य है। उनके शरीर की कान्ति नीलमणि के समान (काली) है। उनके तीन नेत्र हैं। उनके दस हाथों में खड्ग, चक्र, गदा, बाण, धनुष, परिघ, शूल, भुशुण्डि, मस्तक और शंख हैं। दिव्य आभूषणों से विभूषित हैं। उनके दस मुख और दस पैर हैं। विभिन्न ग्रंथों में इसी वर्णन को और भी बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया है। उस विस्तार में न जाते हुए काली के विभिन्न रूपों के नाम दिये जाते हैं। उनके रूप और कार्य के विवरण में पड़ने पर केवल पुनरावृत्ति की ही अधिक संभावना है।

काली के विभिन्न रूप एवं नाम

अभिनव गुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ तन्त्रालोक में काली के 13 रूप दिये हैं : सृष्टि काली, संहार काली, स्थिति काली, रक्तकाली, सुकाली, यम काली, मृत्यु काली, रुद्र काली (भद्रकाली), परमोरक काली, मार्तंक काली, कालाग्नी रुद्र काली, महाकाली व महाभैरव घोरचंड काली। काली के भिन्न-भिन्न कार्यों जैसे सृष्टि, स्थिति, संहार, यम, मृत्यु आदि के

आधार पर इन रूपों की अलग-अलग कल्पना की गई है। लेकिन यह महत्वपूर्ण है कि काली के इन 13 रूपों में भिन्नता होगी, जैसे सृष्टि या स्थिति काली का स्वरूप महाकाली सा उग्र नहीं हो सकता जिसमें कि खड्ग, शूल व कटा हुआ मस्तक होते हैं। सृष्टि व स्थिति में रौद्र रूप का अवसर ही नहीं है। अतः यद्यपि काली मूल रूप से एक ही है, लेकिन कार्य के अनुसार उसके रूप बदल जाते हैं। काली के ये रूप मूर्तिकला तथा भक्त के लिये महत्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि जब मूर्तिकार मूर्ति गढ़ेगा, तब उसे भिन्नताओं का ध्यान रखना पड़ेगा। भक्त के लिये इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसी रूप के सामने वह शीघ्र ही ध्यानस्थ हो जाता है। वैसे साधारण व्यक्ति के लिये काली के ये विभिन्न रूप सम्भ्रम में डालने वाले ही सिद्ध होंगे।

लेकिन अभिनव अकेले ही काली के अनेक रूप मानने वाले नहीं हैं। 17वीं सदी के ग्रंथकार रघुनाथ तर्कवागीश के ग्रंथ आगमतत्व विलास में 9 नाम दिये हैं : भद्रकाली, महाकाली, दक्षिण काली, श्मशान काली, गुह्यकाली, चामुंडा काली, सिद्ध काली, हंसकाली और कामकला काली। इसी सदी के एक अन्य लेखक कृष्णानंद आगमवागीश ने अपने ग्रंथ तन्त्रसार में उपर्युक्त 9 नामों से कामकला काली व हंस काली को छोड़कर रक्षाकाली का नाम जोड़कर कुल 8 काली का विस्तृत रूप-वर्णन दिया है। तोडल तन्त्र के अनुसार 8 काली हैं : दक्षिण काली, भद्रकाली, महाकाली, श्मशान काली, गुह्यकाली, सिद्ध काली, कामकला काली, धन काली, चंडिका काली। जयद्रथ यामल में कई नाम दिये हैं, यथा, इंदीवर, रमणि, ईशान, जीव, वीर्य, सप्तवर्णा आदि। इन ग्रंथों के सिवाय अन्य अनेक ग्रंथ हैं जिनमें काली के विभिन्न रूपों का उल्लेख है। उनका उल्लेख यद्यपि यह तो प्रदर्शित करेगा कि काली कितने रूपों में शाक्तों व तान्त्रिकों की पूज्य देवी रही हैं, लेकिन सभी में थोड़े नामों के हेरफेर से तन्त्रसार की सूची के आसपास ही घूमते हैं।

दक्षिण काली का रूप वर्णन

उपर्युक्त सूचियों में भद्रकाली, दक्षिण काली और श्मशान काली के नाम अधिकांश सूचियों में हैं। हम काली के भिन्न-भिन्न रूपों के विस्तार

में न जाकर केवल दक्षिण काली के रूप का विस्तृत वर्णन तन्त्रसार के अनुसार करेंगे। डॉ. एन.एन. भट्टाचार्य का मत है कि इन सूचियों में तान्त्रिक साधना की दृष्टि से दक्षिण काली या श्यामा ही अत्यंत महत्वपूर्ण हैं (हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन, मनोहर, दिल्ली, 1982, पृ. 349)। यह रौद्ररूपा काली हैं जो विश्व का सृजन, संरक्षण और संहार करने वाली हैं। ध्यान के लिये इसका रूप सहज साध्य है। इसका रूप इस प्रकार है : "भयानक चेहरा, तीन नेत्र, चार हाथ, खुले बाल जो दांयीं तरफ गिर रहे हैं, गले में मुंड माला, बांयें ऊपर के हाथ में एक कटा हुआ सिर, दूसरे में तलवार, दांयां ऊपर का हाथ वरद मुद्रा, दूसरा अभय मुद्रा में, नग्न, काले बादल सा रंग, शरीर पर कटे हुए सिर से गिरती हुई रक्त की बूँदें, कानों में कुंडल के स्थान पर दो मृत शरीर, दांत व चेहरा भयानक, उन्नत उरोज, कटे हुए हाथ के पंजों की करधनी, चेहरे पर मुस्कान लेकिन होठों के दोनों ओर से रक्त बूँदे टपक रही हैं, भयानक नाद, श्मशान वासिनी, नीचे पड़े शिव के शव की छाती पर खड़ी विपरीत रति में मग्न"।

ऐसा ही वर्णन विभिन्न ग्रंथों में थोड़े हेरफेर के साथ मिलता है, जैसे निरुतर तन्त्र, पटल 2 में। उपर्युक्त विवरण में काली के स्वरूप एवं विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि केवल स्वरूप की शाब्दिक अभिव्यक्ति से स्वरूप पर ध्यान नहीं लगता, न ही एकाग्र होता है। स्वरूप में विशेषणों (रंग, आकृति, आभूषण, आयुध, मुद्रा) की उपस्थिति में अनादि, अनंत व निर्गुण शक्ति का अस्तित्व मूर्तिमान हो जाता है। इसे इस तरह से कह सकते हैं कि शक्ति का विमर्श-रूप काल-दिक् में वस्तु-रूप हो जाता है। साधना के प्रारंभिक दिनों में वस्तु-रूप या मूर्ति पर ही ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। वही तो दृष्टिगोचर है, और दृश्य के आधार पर ही अनंत रूप व शक्ति में प्रवेश किया जा सकता है। वह साधना के समुद्र में कूद पड़ने का पटिया है। एक बार तैरने लगे कि समुद्र की पाताली गहराई और देश-देशांतर की सीमा वाले अस्तित्व की अनुभूति होने लगती है जोकि साधारण से तालाब या नाले में तैरने के आनंद से बिल्कुल भिन्न है। संसारी मनुष्य एक नारी

की सृजनशीलता, मातृत्व, पोषकता और क्षमता से परिचित रहता है, इसलिये शक्ति का स्वरूप भी एक नारी का रखा गया। काली का रौद्र रूप उसकी नित्य-संहार क्षमता का प्रतीक है। यह केवल संसार का ही संहार नहीं करती; दुष्टों, राक्षसों व दुःशासनों को भी नष्ट करती है। काली के उपर्युक्त स्वरूप की व्याख्या निम्न प्रकारों से संभव है।

मिथक की दृष्टि से : जब मनुष्य अपनी कल्पना और भावना को अभिव्यंजित करना चाहता है, तब मिथक का प्रयोग करता है। मिथक का आधार यथार्थ या सत्य है, लेकिन मानवता भूत, वर्तमान और भविष्य में एक साथ रहती है। भूत पृष्ठभूमि है वर्तमान की जिसे हम यथार्थ कहते हैं और भविष्य भूत व वर्तमान की संसृष्टि में भावानुकूल कल्पना है। कल आज को संचालित करता है व दिशा भी देता है। अतः कल्पना-सृष्टि को यथार्थ से विलग नहीं किया जा सकता। कल्पना-सृष्टि वर्तमान को प्रभावित करती है जिसका हमें बहुधा ज्ञान नहीं रहता। मिथक की जन्मभूमि कल्पना है, लेकिन मिथक कोरी कल्पना नहीं है।

दैनिक व्यवहार की भाषा में मिथक का उपयोग नहीं होता, लेकिन जैसे हम साहित्य, धर्म व बाल-मनोविज्ञान में प्रवेश करते हैं वैसे ही मिथकों का प्रयोग होने लगता है। ईश्वर, देवी-देवता और उनके रूप व कार्य सभी मिथक के उदाहरण हैं। पौराणिक कथाएँ मिथकीय हैं। साहित्य में महाभारत मिथकीय रचनाए हैं, जो उस क्षण अत्यधिक अभिव्यंजक हो जाती हैं, जब उनका संबंध वर्तमान के यथार्थ से हो जाता है। दिनकर का कुरुक्षेत्र, प्रसाद की कामायनी, धर्मवीर भारती का अंधायुग आदि मिथकीय रचनाओं की प्रासंगिकता के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। पौराणिक पुराकाथाओं में न केवल प्राचीन इतिहास गुम्फित हैं, वरन् तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों को भी प्रकट करते हैं। दक्ष-यज्ञ की पुराकथा में आर्य (दक्ष) और अनार्य (शिव) का संघर्ष स्पष्ट हो जाता है। जिसे हम अनार्य कहते या मानते आये हैं ये ही भारत के आदिवासी हैं। सती का शिव से विवाह दक्ष की स्वेच्छा से नहीं हुआ, लेकिन ब्रह्मा के आग्रह से हुआ था। शिव परम त्यागी व योगी हैं, वे दक्ष का सम्मान इसलिये नहीं कर सके क्योंकि वे (दक्ष) केवल एक राजा ही थे जोकि

सभी देवताओं (आर्यों) के आदृत थे। लेकिन आर्य और अनार्य सभी जानते थे कि शिव योगी होने के साथ-साथ महान कल्याणकारी देव हैं। वे दक्ष की भौतिक सत्ता व संपत्ति की क्या परवाह करते? इसी कारण दक्ष ने शिव को अपने यज्ञ में निमंत्रित नहीं किया।

अभिव्यंजना मिथक के प्राण हैं। प्रत्येक मिथक किसी न किसी गहन उद्देश्य को छिपाये रखती है। चिंतनशील कवियों और विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इन मिथकों के स्वरूप को समझाने का प्रयास करें।

प्रस्तुत में हमारा संबंध काली के स्वरूप से है। एक मिथक (पुराकथा) में अनेक मिथकीय स्वरूपों (पात्रों) का आयोजन रहता है। दुर्गा सप्तशती के अध्याय 7 में काली चण्ड और मुण्ड का बध करती है। इस पुराकथा में अनेक मिथकीय पात्र हैं। दुर्गा सप्तशती पूरी ही शाक्त पुराकथाओं से भरी हुई है। पुराकथा के पात्र, घटनाक्रम, कथा का प्रारंभ और अंत भी मिथकीय रहते हैं। मिथकीय कहने का साधारण अर्थ यह है कि एक काल्पनिक सृष्टि जिसमें देवी यदि मिथकीय पात्र है तो उनके दुश्मन भी मिथकीय हैं। दुर्गा सप्तशती के अध्याय 8 में चण्डिका, अम्बिका और काली के अद्भुत कर्म हैं। काली ने अपने मुख को बढ़ाकर विकराल कर लिया। रक्तबीज नामक राक्षस के रक्त की बूँदों से राक्षस उत्पन्न हो जाते थे। जितनी बूँदें धरती पर गिरेंगी, उतने ही राक्षस खड़े हो जायेंगे। जब रक्तबीज के घायल शरीर से बहुत रक्त सा गिरा, त्यों ही काली ने उसे अपने मुख में लिया। इससे काली के मुंह में असंख्य महादैत्य उत्पन्न हो गये। तब काली ने सभी को चबा डाला और सब खून पी गई। इस तरह रक्तबीज का बध हुआ। धार्मिक पुराकथाओं में राक्षस मारे जाते हैं, देवता या देवी युद्ध करते हैं, लेकिन मरते नहीं हैं (क्योंकि वे अमर माने जाते हैं)।

तात्पर्य यह है कि धार्मिक पुराकथाओं में यदि देव या देवी का मिथकीय अस्तित्व है तो राक्षसों का भी है, घटनाएँ भी मिथकीय होती हैं जिनका मनुष्य को कभी अनुभव नहीं होता। लेकिन विश्वास के कारण वह यथार्थ मानता है। रावण के दस सिर और बीस भुजा वाले स्वरूप पर रामायण-प्रेमी कभी संदेह नहीं करता। फिर भी यह तो स्वीकारना होगा

कि इन मिथकीय स्वरूपों का आधार यथार्थ है। 20 हाथ की कल्पना नहीं की जा सकती। कल्पना का आधार ठोस यथार्थ रहता है। मनुष्य अपने मुँह को फैला सकता है, इस आधार पर यह कल्पना आई कि सुरसा ने अपने मुँह का इतना विस्तार किया कि हनुमान को निगल जाये। तब हनुमान ने अपने शरीर का विस्तार दुगुना कर लिया। इस तरह होड़ चलती रही, लेकिन अंत में हनुमान मच्छर सा सूक्ष्म रूप धरकर सुरसा के मुख में समाकर निकल आये।

मिथकीय दृष्टि से काली के स्वरूप की व्याख्या

काली रौद्र रूपा तान्त्रिक देवी है, अतः उनका मुख भयानक है, जीभ निकली हुई है, एक हाथ में राक्षस का कटा हुआ सिर है, एक हाथ में रक्त-रंजित तलवार है। डाढ़ों से रक्त की बूँदें निकल रही हैं। गले में मुंडमाला है, और बांयां पैर महाकाल की छाती पर है। इससे भयानकता का रूप उपस्थित हो जाता है, लेकिन यह दुष्ट दलन के लिये है। काली का एक कार्य संहार करना भी है, अतः संहार में क्रोध, मुख पर तनाव, निर्दयता के प्रतीक होना चाहिये। लेकिन वह सब का कल्याण करने वाली (सर्वोपकारणाय सदा–आर्द्रचित्ता, दु.स. 4.17) भी है, इसका प्रतीक है उनका एक हाथ वरद व दूसरा अभय मुद्रा में है। संहार, सृजन व संरक्षण साथ-साथ चलने वाली क्रियाएँ हैं। संसार में मृत्यु, जन्म व पोषण साथ-साथ चलते रहते हैं। वे काल व दिक् में युगपत् (एक साथ घटित होने वाली) क्रियाएँ हैं। वे राक्षसों का संहार करती हैं, लेकिन उन्हें पवित्र करके उत्तम लोकों में भेज देती हैं (लोकान् प्रयात्तु रिपवोऽपि. 4-19)। देवी भद्र, सद्कर्मी साधु व संतों की रक्षक हैं, और इनके दुश्मनों की दुश्मन। यह संसार का खेल है, देवी का कोई दुश्मन नहीं है, राक्षस भी नहीं। राक्षस अपने पाप कर्मों से संसार के दुश्मन हैं। लेकिन देवी चाहती यह है कि सृष्टि चलती रहना चाहिये, अतः भक्तों व देवों की पुकार पर वह राक्षसों का संहार करती है। देवी व्यक्ति नहीं, समष्टि है। उसमें किसी प्रकार का विचार-भेद या भाव-भेद नहीं रहता। संसार भेद-सृष्टि है, जब मनुष्य जघन्य पापों से त्रस्त होकर पुकारता है, तब बिना वैर भाव के पापियों का संहार करती है।

जब उपर्युक्त भावों वाली मानवमूर्ति की मानसिक सृष्टि एक कवि करता है तब उसमें सम्पूर्ण भावों का समावेश करने के लिये विरोधी प्रतीकों (जैसे तलवार, कटा हुआ सिर और दूसरे हाथों की वरद एवम् अभय मुद्राएँ) को रखता है। मूर्ति एक पाषाण-खंड, काष्ठ-खंड या धातु-पिंड है, उसमें उपर्युक्त भाव पैदा करने के लिये प्रतीकों का सहारा लेना अनिवार्य है। एक मिथक (पुराकथा) या मूर्ति में अनेक प्रतीकों का समावेश रहता है। प्रतीक यथार्थ का फोटो या बिम्ब नहीं है, उसमें कल्पना का सृजनात्मक समावेश रहता है जिसके बिना कोई भी सृजन असंभव है। संसार में प्रत्येक मनुष्य का विशिष्ट व्यक्तित्व है, कोई भी एक दूसरे से नहीं मिलता। ईश्वर की भेद-सृष्टि है।

काली का वर्ण : काली शब्द वर्णात्मक है, अर्थात् जिसका रंग काला हो वही काली। महाभारत की शक्ति होने से भी महाकाली कहा जाता है। लेकिन इसका प्रतीकात्मक अर्थ गंभीर है। काली का रंग काले बादल (महा मेघ प्रभां श्यामाम्) सरीखा है। किसी भी अनादि व अनंत का वर्ण श्याम, नीला या काला ही होगा। जैसे आकाश या समुद्र। समुद्र का जल हाथ में लेने पर श्वेत ही होगा, लेकिन उसके अनंत विस्तार से वह नीला या श्याम लगता है। जिसको दिक्-काल में बांधा नहीं जा सकता जिसकी अभिव्यक्ति का प्रतीक नीला, श्याम या काला ही होगा। रात्रि के गहन अंधकार में वस्तुओं की भिन्नता समाप्त हो जाती है। इसी तरह काली के स्वरूप में सभी वैयक्तिक विशेषताएँ समाप्त हो जाती हैं। वह केवल शुद्ध अस्तित्व है, निर्गुण-निराकार है, अनंत-अनादि है जिसकी अनुभूति शुद्ध मन से हो सकती है। यद्यपि शक्ति में लिंग-भेद[1] व गुण-भेद[2] या परिणाम भेद नहीं होता, फिर भी साधक के लिये वह मातृरूपा है। काली को दिगंबरा भी कहते हैं, अर्थात् दसों दिशाएँ उसके वस्त्र हैं। विराट स्वरूप को कौन सी सभ्यता वस्त्र पहना सकती है? भेद प्रतीति बुद्धि-भ्रम है (भेदोऽस्ति मति विभ्रमात्, देवी भागवत)।

---

1. अतएव योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते (देवीभागवत)
2. निर्विशेष

काली का एक पैर महाकाल की छाती पर, दूसरा जंघा तक उठे हुए की व्याख्या

यह रूप एक दार्शनिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है। कामशास्त्र की भाषा में इसे विपरीत रति कहते हैं। काली को सांसारिक शब्दावली में महाकाल की पत्नी माना जाता है। लेकिन तान्त्रिक दृष्टि से सृजन, संरक्षण और संहार का कार्य काली करती है। महाकाल में भूत-वर्तमान-भविष्य के भेद रहित काल की अवधारणा है जिसे तन्त्र की भाषा में प्रकाश-स्वरूप कहते हैं। इसे चिद् या शुद्ध चेतना भी कहते हैं। इस चेतना को काली अपने पैर से दबाती है, अर्थात् उसमें से वर्तमान, भूत और भविष्य के भेद निकलते हैं। सृष्टि का अर्थ ही भेद-मूलक अस्तित्व है। प्रकाश केवल भेद का प्रकाशक है लेकिन उसकी चेतना का श्रेय विमर्श (सृष्टि के रूपों) को देना होगा।

पत्नी और पति के सामाजिक संबंधों की दृष्टि से यह प्रतीक अटपटा लगता है, लेकिन यहाँ प्रतीक का आधार सृजन व संहार की निरपेक्ष चेतना है।[1] चेतना किसी वस्तु की उपस्थिति में अर्थवान होती है। सृजन में सृजित वस्तु एवं सर्जक का द्वैत होता है। देवी स्वतः चिति स्वरूप है (चितिरूपेण कृत्स्नमेतद्व्याप्यस्थिता जगत्-दु.स. 5-78)। वह इस संपूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है। वृक्ष, पर्वत, नदी आदि सभी तत्वों में चेतना है, लेकिन सुप्त है। जब सभी वैकासिक क्रम में प्राणी के रूप में अवतरित होते हैं तब उनमें चेतना अभिव्यक्त हो जाती है। मनुष्य में यही चेतना अधिक विकसित रूप में रहती है। जब प्राणी या मनुष्य आत्म-चेतन हो जाते हैं तब सृजन, संरक्षण व संहार के कार्य संपादित होते हैं। जैसे पक्षी घोंसला बनाता है, सर्प, बांबी; मनुष्य वस्तुएँ और मकान, विज्ञान, धर्म, दर्शन। देवी आत्मचैतन्य होने पर समष्टि रूप में विश्व का सृजन, संहार व संरक्षण करती है। विश्व में प्रत्येक क्षण ये क्रियाएँ चलती रहती

---

1. दुर्गा सप्तशती, अध्याय 1-84 में उल्लेख है कि शक्ति ने विष्णु, ब्रह्मा व शिव को उत्पन्न किया-'विष्णुः शरीर ग्रहणमहमीशान एव च'। इस तरह शक्ति या काली का शिव (महाकाल) की पत्नी होना पौराणिक कल्पना है। शक्ति का अस्तित्व पूर्ववर्ती है।

हैं, लेकिन प्राणी व मनुष्य के माध्यम से। मनुष्य में चेतना का स्रोत काली ही है।

महाकाल (शिव) को महाकाली के पैर के नीचे शव रूप में बताया है। शव रूप महादेव हृदयोपरि संस्थिताम् (तन्त्रसार में काली ध्यान)। मनुष्य में निष्क्रिय चेतना और मृत शरीर के चेतना-शून्य होने में केवल एक भेद है–निष्क्रिय चेतना में संभावना है सक्रिय होने की जबकि मृत शरीर की चेतना वापस नहीं लौटती। शव रूप में महाकाल में चेतना निष्क्रिय है। इस निष्क्रिय-चेतना को वस्तु-चैतन्य बनाने का कार्य काली के एक पैर से छाती दबाये जाने पर प्रारंभ होता है। पैर गति के प्रतीक हैं जिसमें देश-काल की उपेक्षा रहती है। दूसरे पैर का उठा हुआ होना प्रदर्शित करता है कि वर्तमान भूत हो जाता है, और भविष्य वर्तमान। इसी तरह विश्व का क्रम चलता रहता है।

तीन नेत्र : लोचन त्रितयान्विताम्-दो नेत्र विश्व प्रत्यक्ष के लिये, तीसरा नेत्र प्रज्ञा का। प्रत्यक्ष में देखा जाने वाला संहार किसी नई सृष्टि का प्रारंभ हो, यह प्रत्यक्ष ज्ञान से संभव नहीं है। काली के संहार सृष्टि के उपक्रम हैं जैसे पुराना मकान गिराकर नये भव्य भवन का निर्माण, अकाल, महामारी, प्राकृतिक प्रकोप आदि प्रत्यक्ष में हाहाकार मचाने वाले हैं, लेकिन विश्व-चक्र एवं सामाजिक-चक्र में अंततः कल्याणकारी हैं। सभ्यता के जोश में सीमेंट व लोहे की गगनचुंबी अट्टालिकाओं का जंगल खड़ा कर लें, और बाद में अनेक रोगों की शिकायत करते फिरें, यह प्राकृतिक न्याय है। इसे प्रज्ञावान तो समझ पायेगा, लेकिन बेसमझ वर्तमान के दुःखों व कष्टों से त्रस्त होता रहेगा। विश्व-योजना में तीसरे नेत्र अर्थात् प्रज्ञा की आवश्यकता है। प्रज्ञावान् ही सृष्टि और संहार की क्रियाएँ साथ-साथ कर सकता है। त्रिनेत्र शारीरिक प्रतीक हैं।

उन्नत उरोज पूर्ण स्वस्थ मातृत्व के प्रतीक हैं जिनका स्नेह-दुग्ध भक्तों के लिये पोषण का प्रतीक है। खुले हुए बाल गहन अंधकार के सूचक हैं, साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि काली रौद्र रूप में हैं। श्मशानवासिनी होने का अर्थ है उनका अनासक्त भाव से सृजन, संरक्षण और संहार में रत होना। श्मशान में संसार की असारता का बोध होता है,

लेकिन काली का संदेश है कि संसार में वैराग्य नहीं, निस्पृह भाव से अपने कर्म में लगे रहना है। देवगण स्वर्ग में रहते हैं, लेकिन वे मुक्त नहीं हैं। जब उनके पुण्य समाप्त होते हैं तब पुनः धरती पर आ जाते हैं (गीता 9-21)। जब महिषासुर व शुंभ-निशुंभ ने देवताओं के सभी अधिकार छीनकर उन्हें स्वर्ग से निष्कासित कर दिया था तब ब्रह्मा व इन्द्र के नेतृत्व में उन्होंने दुर्गा, काली, चामुण्डा व अम्बिका से प्रार्थना करके सहायता की याचना की थी। दुर्गा सप्तशती का यही वर्ण्य-विषय है। काली व शिव दोनों इस लोक के देव हैं, वे स्वर्ग में नहीं रहते, उनका घर श्मशान है।

काली के स्वरूप का उपर्युक्त वर्णन करने के बाद यह कहना पर्याप्त है कि काली के अनेक नाम जो ऊपर दिये गये हैं, उनके स्वरूपों में थोड़ा हेर-फेर करके तान्त्रिकों ने अपना इष्ट माना है और ग्रंथकारों ने वैसा ही वर्णन कर दिया है। दक्षिण काली, श्मशान काली व सिद्ध काली लगभग एक ही स्वरूप की हैं। अतः अनावश्यक रूप से उनके स्वरूप-वर्णन में अधिक लाभ नहीं है। अब हम दस महाविद्याओं में से कुछ, जो अधिक प्रसिद्ध हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

तारा

दस महाविद्याओं पर लिखने वाले सभी ग्रंथकारों ने तारा को स्वीकार किया है। दुर्गा सप्तशती में तारा का कोई उल्लेख नहीं है। परंतु पूर्वी भारत में तारा की उपासना बहु-प्रचलित है। इसका एक सबल प्रमाण यह है कि गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रंथ तान्त्रिक साहित्य में तारा पर लगभग 40 ग्रंथों की सूची दी है, जिनमें से अधिकांश पांडुलिपियों के रूप में हैं। तारा के आविर्भाव और इतिहास संबंधी भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। उनका संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में यह ज्ञात हो सकेगा कि धर्म और साधना के क्षेत्र में किस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों के देवी-देवताओं को अपना लिया जाता है। जिज्ञासु साधक में संप्रदायवादी या भेद-दृष्टि नहीं रहती। भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी पाचक दृष्टि सर्वत्र नजर आती है।

आविर्भाव : तारा आकाशीय नक्षत्र है जो झिलमिलाता और चमकता है। इस देवी की समानता पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभ्यता की Astarre, Ishtar या Ashtaroth आदि देवियों से है। इन नामों में उच्चारण

की भिन्नता होने पर भी Star शब्द सब में है। भारत में जब इन देवियों ने वहां के पर्यटकों व घूमने वाले नागरिकों या आक्रामकों के साथ प्रवेश किया तब भारत ने इसका नाम तारा रखा। संस्कृत साहित्य में इसका सर्वप्रथम उल्लेख छठी सदी के सुबन्धु के वासवदत्ता नामक गद्यकाव्य में कात्यायनी के साथ मिलता है। कात्यायनी का उल्लेख दुर्गा सप्तशती में है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि 'तारा' को देवी के रूप में मान्यता छठी शताब्दी के बाद ही मिली है।

तारा का तिब्बती या चीनी देश से आयातित होना : कई विद्वानों का मत है कि तारा मूल रूप से तिब्बत या चीन की देवी है जिसे भारतीयों ने अपना लिया है। श्री हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि तारा की पूजा की प्रक्रियाएँ जो चीनाचार कही जाती हैं, वे सब चीनी हैं। सिलवेन लेवी ने अपने ग्रंथ नेपाल (खंड1, पेरिस, 1905, पृ. 346) में तारा तंत्र के आधार पर तथा वुडरफ ने अपने ग्रंथ शक्ति एण्ड शाक्त (8वाँ संस्करण, मद्रास, 1975, पृ. 123) में इसी मत को स्वीकार किया है। उनका यह भी कथन है कि पञ्चमकार की वाम साधना भी तारा-साधना के साथ आई है। रसिकमोहन चटर्जी ने सन् 1874 में बंगाल में उपलब्ध तन्त्र ग्रंथों जैसे रुद्रयामल (10वीं सदी), ब्रह्मानंदकृत तारारहस्य (1675 ई.) तथा महाचीनाचार क्रम की पांडुलिपियों के आधार पर उनका बंगला लिपि में संस्करण छपवाया था। उनका मत है कि इन तीनों ग्रंथों में तारा की उपासना संबंधी वामाचार (जिसे वशिष्ठ भारत लाये थे) का वर्णन है। मेरुतन्त्र का भी यही मत है कि वामाचार का मूल उद्गम चीन में ही हुआ। इन सभी मतों की पृष्ठभूमि में रुद्रयामल में वर्णित वशिष्ठ के चीन जाने और वहाँ बुद्ध से दीक्षा लेने की कथा है। ब्रह्मयामल में भी थोड़े परिवर्तन के साथ इसी कथा की पुनरावृत्ति है। यह भी उल्लेख है कि वशिष्ठ ने गौहाटी के निकट नीलाचल पर जहाँ कामाख्या का मंदिर है, देवी की उपासना की थी। इस मंदिर में देवी योनि के रूप में पूजी जाती है। यहाँ से थोड़ी ही दूर वशिष्ठाश्रम आज भी वर्तमान है। इससे कथा के कुछ सूत्र जुड़ जाते हैं। एक तथ्य और महत्वपूर्ण है कि देवी को जवा पुष्प विशेष रूप से अर्पित किया जाता है जिसे चीनी गुलाब भी कहते हैं।

उपर्युक्त सबल प्रमाणों से ऐसा लगता है कि जब इतने ग्रंथ, ग्रंथों के विवरण तथा विद्वानों के मत इस बात की पुष्टि करते हैं कि तारा और वामाचार का मूल उत्स चीन है, और वहीं से वशिष्ठ सरीखे साधक भारत में लाये है, तब यह असत्य नहीं हो सकता। लेकिन हमारा निवेदन है कि इस बिंदु पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है क्योंकि बौद्धों की धर्म साधना में मन्त्रयान व वज्रयान का प्रवेश 4-5वीं सदी में ही हो गया था। वज्रयान के आते-आते पञ्चमकारों की साधना भी स्वीकृत हो गई थी।

चीन से धार्मिक संबंध दसवीं सदी के बहुत पूर्व से ही हो गये थे। अनेक बौद्ध विद्वान और साधक चीन गये थे और वहाँ रहकर उन्होंने बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया था। भारत में ब्राह्मण धर्म एवं जैन धर्म के दबावों के कारण अनेक ग्रंथ बौद्ध विद्वान अपने साथ ले गये थे। लेकिन कुछ सदियों के बाद जब चीनी व भारतीय बौद्ध साधक भी भारत लौटे तब उन्हें चीनी साधना अधिक मौलिक लगी। इस तरह भारत की साधना चीन से ही देश-कालानुसार नया रूप लेकर भारत में आ गई।

विचारार्थ कुछ बिंदु :

तारा मूल रूप से भारतीय बौद्ध देवी है क्योंकि छठी सदी के ग्रंथ वासवदत्ता में इसका उल्लेख है। अतः माना जा सकता है कि इसके पूर्व ही भारत में प्रचलित थी। यह सत्य है कि सप्तशती व अमरकोश में इसका उल्लेख नहीं है जोकि पांचवी-छठी सदी के ग्रंथ हैं। लेकिन यह तो आवश्यक नहीं है कि ये ग्रंथ बौद्ध एवं जैन साधन के सभी देवी-देवताओं और साधनाओं के नामों का संकलन भी करें। वासवदत्ता एक साहित्यिक कृति है उसमें भी जाति व धर्म के पात्रों के समावेश की संभावना रहती है, अतः उसमें तारा का उल्लेख हुआ है।

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में प्रमाण

तन्त्र संबंधी सबसे प्राचीन बौद्ध ग्रंथ है 'मंजूश्री मूल कल्प'। बी.टी. भट्टाचार्य इसे ईसा की द्वितीय सदी का और विन्टर निट्ज 7वीं सदी का मानते हैं। एन.एन. भट्टाचार्य का मत है कि इस ग्रंथ का आज जो रूप

उपलब्ध है, उस आधार पर इसे 8वीं सदी का माना जा सकता है। इस ग्रंथ में तारा का वर्णन है। इसके कई रूप हैं, जैसे भ्रकुटि लोचना, मामकी, श्वेता, पण्डरवासिनी, सुतारा आदि। श्री पी.सी. बागची 'साधनामाला' नामक ग्रंथ (5-6ठी सदी) में वर्णित 6 साधनाओं के आधार पर महाचीन तारा और एक जटा में समानता पाते हैं। नागार्जुन ने इस देवी को भोट (तिब्बत) देश से ग्रहण किया है। हिन्दू तन्त्रों में एकजटा तारा, उग्रतारा और महानील सरस्वती को अपना लिया गया है। हिन्दू तन्त्रों में ध्यान के श्लोकों व बौद्ध साधनाओं में बहुत समानता है। एक जटा देवी का आधार बौद्ध धारणी है जिनका सृजन चौथी से आठवीं सदी तक हुआ था। सातवीं सदी से तारा स्तोत्रों की खूब रचना हुई है। आठवीं सदी के कश्मीरी कवि सर्वज्ञमित्र ने अपने सारंगधरा स्तोत्र में तारा की खूब प्रशंसा लिखी है। 7वीं सदी में तिब्बत और चीन में तारा भक्ति प्रचलित हो गई थी। तारा को बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की शक्ति माना जाता है। इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि तारा मूल रूप में भारतीय मूल की देवी है जिसका सर्वप्रथम विकास बौद्ध साहित्य में हुआ था। दसवीं सदी के बाद हिन्दू तन्त्रों में इसे ग्रहण कर लिया, जिसके प्रमाण यामल ग्रंथ, सम्मोहन तन्त्र और अनेक 'तारा' केन्द्रित ग्रंथ हैं जिनकी संख्या व नाम कविराज ने अपने ग्रंथ तान्त्रिक साहित्य में पृष्ठ 251 से 261 पर दिये हैं। ये ग्रंथ तो तारा के नाम से ही प्रसिद्ध हैं, इनके सिवाय अन्य ग्रंथों, जैसे यामलग्रंथ, तन्त्रसार, महानिर्वाण तन्त्र आदि में इसका उल्लेख है। तारा भक्ति सुधार्णव (गदाधर के शिष्य नरसिंह द्वारा 17वीं सदी में लिखित) का हवाला देते हुए पञ्चानन भट्टाचार्य ने अपने संपादकीय में आग्रहपूर्वक कहा है कि तारा बौद्ध देवी नहीं है (Tara is not the celebrated goddess of the Bauddha Pantheon).

तारा मत का सर्वप्रथम प्रवेश तिब्बत में

डॉ. एन.एन भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन' के पृष्ठ 104 पर कहा है:

"तारा भक्ति भारत से तिब्बत गई है। वहाँ उसका नाम तिब्बती भाषा Dol-MA or Sgrol-MA हुआ। जैसे इनके पति अवलोकितेश्वर

अनेक नामों से जाने जाते थे, इसी तरह तारा भी कई नामों से तिब्बत में प्रसिद्ध हो गई। लेकिन बौद्ध धर्म के पूर्व चीन में ताओ और कन्फ्यूशियस धर्म के प्रभाव से अवलोकितेश्वर का रूपांतर एक देवी के रूप में हो रहा था।

बौद्ध धर्म के चीन में प्रवेश के पूर्व ताओ व कन्फ्यूशियस धर्म प्रचलित थे। उनके द्वारा मान्य देवी S-I-WAND (जोकि YIN नामक नारी शक्ति का रूप थी) के रूप में अवलोकितेश्वर का रूपांतरण हो गया। यह 7वीं-8वीं सदी की बात है। इस रूपांतरण के बाद चीन में SI-WAND-MU अपने नये नाम KUAN-YIN से प्रसिद्ध हुई"।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय बौद्ध तारा तिब्बत में SGROL-MA या DOLMA के रूप में मानी गई, और वही चीन में पहुंचकर KUAN YIN के रूप में अवतरित हुई। वाम साधना में पञ्चमकार के अंग भारतीय जीवन में बौद्ध काल के पूर्व से ही प्रचलित हैं। बौद्ध तान्त्रिकों ने इन्हीं बिखरे हुए तत्वों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा व मैथुन) को एक सूत्र में पिरोकर विशिष्ट साधना का रूप दिया। अतः यह कहना समीचीन नहीं लगता कि वाम साधना तारा के साथ चीन से आई है।

चीनी व भारतीय यात्री और भिक्षुओं का आवागमन

ईसा की प्रारंभिक सदियों से ही भारतीय विद्वान, भिक्षुक एवं यात्रियों का चीन में बुलाया जाना या धर्म प्रचार के लिये जाना चल रहा था। ह्वेन-सांग (जो भारत में 630 से 644 ई. तक अर्थात् 7वीं सदी) के आने तक लगभग 18 विद्वान् व भिक्षुक चीन गये तथा 37 भारत आये। सर्वप्रथम विद्वान् कश्यप मातंग थे जो 65 ई. में चीनी सम्राट द्वारा बुलाये जाने पर चीन गये थे। उनकी समाधि अभी भी चीनी में है। दूसरे भारतीय ब्राह्मण धर्मरक्ष थे जिसे सम्राट मिंग हो ने 67ई. में चीन में बुलाया था। मातंग और कश्यप ने मिलकर कुछ सूत्रों का चीनी अनुवाद किया था। गुणभद्र ने 78 भारतीय ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया। परमार्थ श्रवण 548 ई. में चीन गये थे, उन्होंने 10 ग्रंथों का अनुवाद किया था। 4थी से 6ठी सदी के बीच भारत से 10 दूत-मंडलों को चीन भेजा गया था। तीन

प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने बौद्ध तन्त्रों व 'धारणी' का चीन जाकर चीनी में अनुवाद करके प्रसिद्ध कर दिया था, वे निम्नलिखित हैं–

शुभाकरसिंह (चीनी नाम शान वू वेई 716 ई.)

वज्रबोधि (चीन कांग ची 732 ई.)

अमोघवज्र (पू खूंग, 774 ई.)

चीनी यात्री व भिक्षुक जो भारत आये :

भारत में बौद्ध धर्म की खोज में आये यात्री फाह्यान (399-414), 7वीं सदी के ह्वेनसांग (630-644), इत्सिंग (678-685), सुमेन च्यांग (700)। सुंगमन भारत में कई वर्ष रहकर सन् 521 में चीन लौटा और अपने साथ 175 बौद्ध ग्रंथ ले गया। ह्वेनसांग और इत्सिंग भी भारत भर में बौद्ध मठों में घूमघाम कर बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करते रहे और उसे अपने साथ चीन ले गये। ह्वेनसांग को नालंदा में मोक्ष देव की उपाधि दी थी, और इत्सिंग बौद्ध भिक्षु बन गये थे।

इस संबंध में एक महत्वपूर्ण बात ध्यान रखना है कि चौथी सदी में बौद्ध धर्म चीन में फैल गया था और 379 ई. में उसे राजधर्म घोषित कर दिया गया था।[1] इस कारण चीन से आने वाले अधिकतर बौद्ध धर्म व उसके साहित्य के मूल-स्वरूप को जानने, समझने और अपने देश की भाषा में अनुवाद करने के लिये इतनी बड़ी संख्या में भारत आ रहे थे। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने भारत में आकर भारतीय नाम रख लिये थे, जैसे सुयेन ताई ने सर्वज्ञानदेव (650ई.), ऊँग पी ने यतिसंग्रह, सुयेन चिऊ ने प्रकाशमति। इनके सिवाय चीन जाने वाले अनेक भारतीय भिक्षुक जैसे रमणमणि, पुण्योपाय, नरेन्द्र यक्ष आदि थे। पुण्योपाय (655ई.) तो अपने साथ महायान व हीनयान के 150 ग्रंथ ले गये थे। वे चीन की सफल यात्रा से 663 ई. में भारत वापस आ गये थे।

1. चीन जाने वाले व आने वाले भारतीय विद्वानों के संबंध में सभी सूचनाएँ पंडित राजशेखर के 'नई दुनियां' इन्दौर दैनिक में प्रकाशित एक लेख दिनांक 9.10.96 से सधन्यवाद ली गई हैं। डॉ. एन.एन. भट्टाचार्य की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन' के पृष्ठ 98 पर भी कुछ बहुमल्य सूचनाएं दी हैं।

निष्कर्ष :

चीन में चौथी सदी में बौद्ध धर्म फैल गया था। नीढम ने अपनी पुस्तक 'सायन्स एण्ड सिविलाइजेशन इन चायना', खण्ड-2 (केम्ब्रिज, 1956) के पृष्ठ 427-28 पर यह मत दिया है कि ताओ धर्म में मैथुन संबंधी व्यवहार व सिद्धांत ईसा की द्वितीय सदी से छठी सदी तक प्रचलित थे। जब बौद्ध धर्म चीन पहुँचा तब उसने इन सिद्धांतों को अपने में समायोजित कर उसे वामाचार का स्वरूप दे दिया। भारतीय यामल ग्रंथों में वशिष्ठ का चीन जाकर वामाचार सीखकर भारत लौटना ही तन्त्रों में पञ्चमकारों के समावेश का प्रारंभ था।

लेकिन भारत में देवी (शक्ति) पूजा का प्रारंभ ईसा की प्रारंभिक सदियों में ही हो गया था, और आदिवासियों में देवी पूजा इसके बहुत पहिले थी। आदिवासी जन आज भी अपने देव-देवी की पूजा बिना मद्य-मांस के पूरी नहीं करते। पशुओं और यहाँ तक कि नरबलि की प्रथा भी चालू है। यद्यपि नरबलि इतने गुप-चुप व रहस्यमय तरीके से होती है कि पकड़ में नहीं आती। मैथुन के प्रतीक के रूप में उदाहरण अश्वमेध यज्ञ की रीतियों में मिलते हैं। बौद्ध धर्म भारत में 400 ई. तक मन्त्रयान और वज्रयान की तरफ विकसित हो रहा था। इन स्थितियों में यह कतई असंभव नहीं है कि तारा और वामाचार का विकास भारत में ही हो गया तो चीन में चौथी-पाँचवी सदी में बौद्ध धर्म का प्रचार ही हुआ था। अभी वे बौद्ध दर्शन, धर्म और साधना से उतने भी परिचित नहीं थे जितने कि तिब्बत और नेपाल।

हमने उपर्युक्त विवरण में अनेक भारतीय विद्वानों एवं भिक्षुओं के चीन जाने और वहाँ जाकर अपने साथ ले जाये गये ग्रंथों का चीनी में अनुवाद करने (जो 4-5वीं सदी से ही प्रारंभ हो गया था) का उल्लेख किया है। इसी तरह जो चीनी यात्री बौद्ध धर्म संबंधी पूर्ण गवेषणा के मंतव्य से भारत आये थे, उन्हें वामाचार की साधनाओं से अधिक मूल्यवान सामग्री हीनयान और महायान के ग्रंथों, बौद्ध मूर्तिकला, बौद्ध स्थापत्य, तान्त्रिक रसायन आदि में उपलब्ध थी। अतः वे अपना बहुमूल्य समय भारतीय बौद्धों को वामाचार साधना में दीक्षित करने में बिता सकते थे। भारत उनका गुरु देश था, और यहाँ के भिक्षुक उनके परम-पूज्य

शास्ता। जिन यामल ग्रंथों में वशिष्ठ के चीन जाने की कथा दी गई है वे तो 10वीं सदी तथा उसके बाद के ग्रंथ हैं। तब तक कई बौद्ध भिक्षुक चीन में अपना कार्य संपन्न करके भारत लौट आये थे। उनमें से एक को वैदिक परंपरा ने वशिष्ठ नाम दे दिया।

ब्राह्मण परंपरा बौद्ध धर्म तथा उसमें प्रचलित साधनाओं की कटु आलोचना करती रही हैं। इसीलिये कथा के रूप में वशिष्ठ को चीन भेजा और वहाँ से वामाचार ले आने का सुझाव दिया। वैदिक-परंपरा के हिन्दू-तन्त्रों का मंतव्य यह लगता है कि पञ्चमकार की साधना का प्रारंभ भारत में नहीं हो सकता, यह तो पूर्णरूपेण अहिंसावादी तथा नैतिक नियमों का कठोरता से पालन करने वाला देश है, अतः तारा के साथ पञ्चमकार भी चीन से आयातित है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि यद्यपि चीन व भारत दोनों की प्राचीन संस्कृतियाँ हैं, तथा दोनों का आपस में आदान-प्रदान भी होता रहा है; लेकिन बौद्ध धर्म के स्वाभाविक विकास, शक्ति-पूजा की प्राचीनता व पञ्चमकारों के अवयवों को अलग-अलग रूप में वैदिक काल से प्रचलित रहने के कारण अधिक संभावना यही है कि तारा व वामाचार भारत से ही निर्गमित तान्त्रिक सिद्धान्त हैं।

तारा के स्वरूप

अभी तक इस प्रश्न में उलझे रहे कि तारा व वाममार्ग का उदय भारत में हुआ या वे भारत से चीन गये? विस्तार में जाने का कारण यह था कि इस प्रश्न का संबंध ऐतिहासिक तथ्यों से था, तथा यह भी समझना था कि किस तरह वैदिक परंपरा के लोग बौद्ध धर्म में विकसित तथा हिन्दू तन्त्रों में पल्लवित साधना को वेद-प्रतिषिद्ध कहकर हेय दृष्टि से देखते थे।

तन्त्रसार के अनुसार इसका रूप है—युवती, भयानक, ठिगनी, बड़ा पेट, प्रत्यलीढ़ मुद्रा में खड़ी हुई, मुंडमाला पहने, लपलपाती जीभ, दायें हाथों में तलवार व छुरी, कटी हुई मुण्डी, कमल; बांयें तरफ मुकुट के स्थान पर ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य। तारा मोक्षदायिनी, ज्ञानदात्री, काव्य-प्रतिभा प्रदान करने वाली, संपत्ति व व्यापार में सफलता, राज दरबार में सम्मान दिलाने वाली मानी गई है।

कालो के समान तारा के भी अनेक रूप हैं। रंग के आधार पर तारा हरे, श्वेत, नीले व लाल रंग की होती है। इसी कारण तारा नील सरस्वती नाम से प्रसिद्ध है। यह माना जाता है कि इसका उद्‍गम मेरु पर्वत के पश्चिम में स्थित चोल झील से हुआ है। जब तपस्यारत थी तब उसकी शक्ति झील में गिर गई थी, इस कारण इसका वर्ण नीला है। एक रूप श्यामता है। 'तारा रहस्य' के पटल प्रथम में इसे एकजटा कहा गया है। अष्टतारा या अष्टतारिणी के रूप हैं : तारा, उग्रा, वज्रा, महोग्रा, काली, सरस्वती, कामेश्वरी व भद्रकाली। बौद्ध तन्त्र साधनमाला (8वीं सदी) में इनका नाम वज्र तारा है। मंजूश्री मूलकल्प (जो बी.टी. भट्टाचार्य के अनुसार 2री, विन्टरनिट्ज व एन.एन. भट्टाचार्य के अनुसार 7-8वीं सदी का ग्रंथ है) में इसके नाम भृकुटि, लोचना, मामकी, श्वेता हैं। तारा के रूपों व तन्त्र ग्रंथों की अनेकता से एक तथ्य उजागर होता है कि उत्तर और पूर्वी भारत में तारा की उपासना बहु प्रचलित थी। प्रमाणस्वरूप उस क्षेत्र में तारा की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दू साधकों ने बौद्ध तारा को बड़े व्यापक रूप में अपना लिया था। उसे काली के समान ही महाविद्याओं में सम्मान मिला। 15-16वीं सदी के ग्रंथ 'शक्ति संगम तन्त्र' (सुंदरी खंड-51) के अनुसार काली, तारा, त्रिपुर सुंदरी और छिन्नमस्ता एक ही देवी के नाम हैं। साधारणतया ये चारों अलग-अलग महाविद्याओं के नाम हैं।

तारा उपासना में वामाचार

'तारा भक्ति सुधार्णव' के लेखक गदाधर-पुत्र नरसिंह हैं जिन्होंने 17वीं सदी में यह ग्रंथ लिखा था। पञ्चानन भट्टाचार्य ने इसका संपादन करके भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित करवाया है। इसके 6ठे अध्याय में पञ्चमकारों का उल्लेख है। उनका मत है कि यह उपासना ब्राह्मणों के लिये वर्जित है, क्योंकि ऐसा करने से वे भूत, पिशाच, प्रेत व ब्रह्मराक्षस की योनि में जाते हैं। शेष वर्णों के लोग यह साधना कर सकते हैं। लेकिन उन्होंने यह उल्लेख नहीं किया कि जो ब्राह्मण मद्य व मांस का सेवन स्वभाव से (जैसे बंगलादेशी, पहाड़ों व समुद्र-तटों पर बसने वाले) करते हैं, उन्हें भी करना चाहिये या नहीं। पञ्चमकारों का प्रसाद मन्त्र द्वारा शुद्ध करके सर्वप्रथम देवी को अर्पित करके बाद में गुरु को अर्पित करने

के बाद स्वतः सेवन करना चाहिये। संयमहीनता या ऐन्द्रिक लोलुपता के लिये इस साधना में कोई स्थान नहीं है। संयमित रूप से प्रसाद-पान करने वाला दिव्य-साधक है, जबकि संयमहीन पशु-साधक। मद्य सेवन से 6 स्तर (उल्लास) प्राप्त होते हैं, यथा आरंभ, तरुण, यौवन, प्रयुढ़, प्राउढ़ान्त, उन्मना, अनवस्था। अनवस्था में संज्ञाहीनता आती है। मैथुन के संबंध में 'दूति यगाधिकार निर्णय' में विस्तार से नियमों का उल्लेख है। इसी तरह अध्याय 7 में कुमारी पूजा को तारा या आद्याशक्ति का रूप मानकर 7, 8 या 9 वर्ष की कन्याओं की पूजा करनी चाहिये। 'शिवा-बलि' का भी उल्लेख है जोकि बेल-वृक्ष के नीचे या श्मशान में की जाती है। संध्या के समय पशु-मांस कच्चा या पका हुआ अर्पित किया जाता है। यह मांस पूजा समाप्ति पर लोमड़ियों को खिला दिया जाता है। अध्याय 8 में मन्त्र के एक लाख पुरश्चरण करके वीर साधक के लिये 'अष्टशक्ति पूजा' का विधान है। इसमें 8 कन्याएँ या स्त्रियों को चुनकर उनकी पूजा करके भेंट करना चाहिये। ये आठ कन्याएँ या स्त्रियाँ हैं : ब्रह्माणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा, दासी, नाई, धोबी, योगिनी। अध्याय 9 में शव साधना पर चर्चा की गई है। यह वीर साधना है। शरीर, मन व दिल से मजबूत व्यक्ति को ही ऐसी साधना करना चाहिये। इससे सिद्धि प्राप्त होती है। एक सिद्ध अपने काम्य कर्मों की या अन्य व्यक्ति की कामनाओं की पूर्ति के लिये सिद्धियों का उपयोग कर सकता है। षट्कर्म यथा शांति, वशीकरण, स्तंभन, द्वेषण, उच्चाटन व मारण हैं। पुष्टि व आकर्षण के लिये भी सिद्धियों का उपयोग किया जा सकता है। अध्याय 10 व 11 में इनका विशद वर्णन है। गंथकार का स्पष्ट मत है कि आमिष भोजी को पशु-बलि देना चाहिये। सात्विक लोग फल, फूल की भेंट कर सकते हैं। 11वें अध्याय में सिद्धियों को प्राप्त करने, उनका उपयोग करने, सिद्धियों के नाना प्रकारों का व्यापक वर्णन है। औषधियों के संबंध में भी विचार किया गया है।

इस ग्रंथ के संबंध में विस्तार से लिखने का आशय यह है कि वामाचार-साधना के सभी अंग-प्रत्यंगों की साधनाओं तथा तन्त्र की सिद्धिदात्री शक्ति का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि तारा संबंधी साहित्य में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ वामाचार का ही विवेचन

है। यद्यपि यामलग्रंथ और अन्य तन्त्र ग्रंथों में भी छुटपुट साधनाओं एवं सिद्धियों के वर्णन हैं, लेकिन जो समग्रता तारा-ग्रंथों में उपलब्ध है, वह अन्यत्र नहीं है।

तारा का स्वतंत्र अस्तित्व

यह उल्लेख हो चुका है कि तारा मूल रूप से बौद्ध देवी है जिसे हिन्दू तन्त्रों ने अपना लिया, और इस तरह अपनाया कि इसके सम्बन्ध में जितना साहित्य और गरिमा हिन्दू तन्त्रों में वर्णित है, उतनी बौद्ध ग्रंथों में नहीं। ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य को भी हिन्दू ऋषियों में स्थान देकर न्यास में उनको सादर स्मरण किया गया। यही नहीं, कवच पाठ में तारा को बीजरूपी महेश्वरी, भवानी शक्तिरूपा, हरप्रिया आदि शब्दों से संबोधित किया गया। यह तो महज पंडिताऊ बात है कि तारा को बौद्ध देवी सिद्ध करना, क्योंकि धर्म और साधना के क्षेत्र में ऐसे अलगाव नहीं चलते। हिन्दू पुराणों ने स्वतः बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता दी है। वामाचार की साधना का मूल भी भारत ही है।

रुद्रयामल (अर्थात् 10वीं सदी) से ही 10 महाविद्याओं के नाम निश्चित हो चुके थे। उसके पश्चात् 18वीं सदी तक या तो स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में या अन्य तन्त्र-ग्रंथों में इन महाविद्याओं का उल्लेख होता रहा। इसका अर्थ यह निकलता है कि तान्त्रिक साधना में 10 महाविद्याएं ही मुख्य रूप से साधना की इष्ट देवियाँ एक ही देवी के भिन्न-भिन्न नाम हैं, और देवी वस्तुतः एक ही है। कई ग्रंथकार, जैसे योगिनी तन्त्र और शक्तिसंगम तन्त्र (सुन्दरी खंड, IV-51) काली, तारा, त्रिपुर सुंदरी और छिन्नमस्ता को एक ही मानते हैं।[1] लेकिन साथ ही यह कह देते हैं कि तारा का शिष्य काली की पूजा न करे और काली का शिष्य तारा की (तारा शिष्यस्यजपेत्कालीं कालीशिष्यस्तु तारिणीम्-II-16)।

इस भेद की मान्यता के कारण तारा के मन्त्र, यन्त्र, ध्यान, न्यास, कवच व पूजा-पद्धति अन्य महाविद्याओं से भिन्न हैं। इन्हीं के आधार पर विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ही तारा की उपासना की जाती है।

1. योगिनी तन्त्र (खेमराज श्रीकृष्णदास, मुंबई, 1995), पृ. 15
काली तारा तथा छिन्ना गुरुर्वै भूपतिस्तथा
एक रूपेण बोद्धव्या भेदेन नरकं व्रजेत। II-15)।
या काली परमा विद्या सैव तारा न संशयः II-18)।

8

महाविद्या

तन्त्र साधना में महाविद्याओं का बड़ा महत्व है। शक्ति साधना में जिस तरह 9 दुर्गा व सप्तमातृका प्रसिद्ध हैं, उसी तरह तन्त्र में दस महाविद्याएँ प्रसिद्ध हैं। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शाक्त और तन्त्र में देवियों के अनेक नाम, रूप और कार्य दिये गये हैं। सम्प्रति हमारा उद्देश्य केवल हिन्दू तन्त्रों की देवियों और विशेषकर दस महाविद्याओं के संबंध में चर्चा करना है। तान्त्रिक उपासना में मोक्ष प्राप्त करने की आध्यात्मिक कामना रहती है; लेकिन उससे अधिक जागतिक दुःख-कष्टों के निवारण, सामाजिक जीवन में आने वाली समस्याओं के निराकरण में वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि षट्कर्मों का प्रयोग और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये देवी की उपासना की जाती है।

हिन्दू तन्त्रों में मान्यता है कि शक्ति अद्वैत होती है। विश्व का सृजन, पालन और संहार वही करती है। सारा विश्व उसी शक्ति का अभिव्यक्त स्वरूप है। उसके सौम्य और रौद्र या उग्र रूप भी हो सकते हैं। वे प्रसन्न होने पर सुख, संपत्ति और मुक्ति का वरदान देती हैं। लेकिन सेवा के अभाव में वे ही संपत्ति को नष्ट कर देती हैं और विनाश का कारण बन जाती हैं।[1] विश्व इतना विराट एवं बहुरूप है कि प्रत्येक कार्य को करने के लिये देवी अपना रूप परिवर्तित करती रहती है। जैसे एक ही नारी कन्या, बहू, सास, पत्नी और समाज की सदस्या होती है और उसकी

1. सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये
भवकाले नृणां सैव लक्ष्मी वृद्धिप्रदा गृहे.
सप्तशती, 1-57, IX-40

स्थिति के अनुसार उसका रूप, व्यवहार, वाणी आदि बदल जाते हैं, उसी तरह देवी के अनेक रूप नाना प्रकार के कार्य संपन्न करने में भक्त की सहायता करते हैं। जैसे मनसा देवी सर्प का विष उतारती है, लक्ष्मी प्रसन्न होने पर घर में धन-धान्य की वृद्धि करती है; अन्नपूर्णा कभी भी अन्न की कमी नहीं होने देती है और सभी की भूख को तृप्त करती है। महिषासुर-मर्दिनी काली और चामुण्डा राक्षसों का संहार करती हैं। महाविद्याओं में भी जो कार्य बगलामुखी करती है वह तारा या छिन्नमस्ता नहीं करती। महिषासुर-मर्दिनी, चामुण्डा, बगलामुखी, छिन्नमस्ता आदि सभी देवियों के रूप, शृंगार, आयुध और कार्य भिन्न-भिन्न रहा करते हैं। मूर्ति-कला की दृष्टि से यह विषय जितना विशाल और आनंददायक है, उतना ही उलझाने वाला भी है।

देवी के रूप, नाम, शृंगार, आयुध, वाहन और कार्य की भिन्नता के साथ प्रत्येक के यन्त्र, मन्त्र, बीज, न्यास, कवच, पीठ आदि भी भिन्न-भिन्न हैं। तन्त्र-साहित्य में अपरिचित व्यक्ति जब प्रत्येक देवी की उपासना के संबंध में लिखे अनेक ग्रंथों को देखता है तब उसकी बुद्धि चकरा जाती है। गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रंथ तान्त्रिक साहित्य में ऐसा स्तुत्य प्रयास कर दिखाया है। फिर भी इस वृहद् ग्रंथ में बौद्ध तथा जैन तन्त्रों का समावेश नहीं हो सकता है। केवल हिन्दू तन्त्रों की इतनी बड़ी सूची देखकर तन्त्र उपासना और साधना का महत्व अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

देवी के अनेक रूपों की व्याख्या

शक्ति को यदि अद्वैत-तत्व मानें तो प्रश्न उठता है कि देवी के नाना रूपों के संबंध में क्या व्याख्या होगी? इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है–

(अ) **अवतारवाद :** मूल रूप में शैव व शाक्त धर्म में अवतारवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। जिस तरह शक्ति (देवी) भी एक अद्वैत तत्व है। लेकिन जब ये सांप्रदायिक धर्म पौराणिकों के प्रभाव में आये तब उन्होंने अवतारवाद को स्वीकार कर लिया। विदित होता है कि भगवद्गीता के अवतारवाद से न केवल पुराण प्रभावित हुए, वरन् शैव और शाक्त मत भी प्रभावित हुए और आश्यर्च यह है कि सभी गीता की भाषा में ही

अपने मत की पुष्टि करते हैं। भगवद्गीता के अध्याय 4 श्लोक-7 व 8 में इस मंतव्य को स्पष्ट किया गया है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमर्धमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होने पर साधु पुरुषों के उद्धार, दुष्ट लोगों को नष्ट करने और पुनः धर्म संस्थापना के लिये प्रत्येक युग में ईश्वर का अवतार होता है।

इसी मंतव्य को शाक्त और तन्त्र ने स्वीकार किया है। दुर्गासप्तशती के निम्न श्लोक देखिये :

नित्यैव सा .... तत्समुत्पत्तिर्बहुधा
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा सदा 1-64-65

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्थाभविष्यति
तदा तदावतीर्या हं करिष्याम्यरिसंक्षयम् (XI-54, 55)

जिस तरह गीता के कृष्ण व रामायण के राम अवतार हैं, उसी तरह महिषासुर-मर्दिनी, दुर्गा, चामुण्डा, काली आदि दुर्गासप्तशती में देवी के अवतार हैं। महिषासुर-मर्दिनी या दुर्गा का अवतार महिषासुर का नाश करना था; चामुण्डा के अवतार ने चण्ड-मुण्ड नामक राक्षसों को नष्ट किया; काली ने शुम्भ-निशुम्भ को। ये राक्षसगण घोर अत्याचारी थे, और इन्होंने विभिन्न कालों में देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया था।

(ब) **अनेक रूप धारण करना** : अवतारवाद में काल का महत्व है। जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब देवी का अवतार होता है। लेकिन रूप धारण में एक ही देवी एक ही समय आवश्यकतानुरूप कई रूप ग्रहण कर लेती है। सप्तशती के दशम अध्याय में देवी का कथन है :

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया काममापरा
पश्यैता दुष्ट मय्येव विनशन्त्यो मद्विभूतयः -5

जब अम्बिका ने सप्तमातृकाओं (ब्रह्माणी, माहेश्वी, वाराही, वैष्णवी, कौमारी, नारसिंही, इन्द्राणी) के साथ शुंभ के भाई निशुम्भ व अन्य राक्षसों को मार डाला था, तब शुंभ ने कहा था कि वे अन्य देवियों के बल से घमण्ड कर रही हैं। तब देवी ने उत्तर दिया था कि वे अकेली हैं, और अन्य तो उसकी विभूतियाँ हैं; और देखो, ये सब उसी में प्रवेश कर रही हैं। वे ही अनेक रूपों में प्रकट हुई थीं (अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता)।

(स) भक्तों ने अपनी साधना के क्षणों में जिन-जिन रूपों का जहाँ-जहाँ प्रत्यक्ष किया था, उसके अनुसार देवियों के रूप और नाम स्थिर हो गये। मन्त्र-जप और पुरश्चरण में जब मन बैखरी और पश्यन्ती भूमि से मध्यमा का स्पर्श करने लगता है तब देवी के नाना रूप समाप्त होकर एक ही शक्ति का आभास होता है। अर्थात् केवल बैखरी भूमि पर ही देवी के नाम-रूपों में भेद होता है। देवी या शक्ति एक ही है जोकि भक्त की मनोकामना के अनुसार अनेक रूप धारण करती है।

शाक्त और तान्त्रिक ग्रंथों तथा मूर्ति-शिल्प के अनुसार कुछ रूप-नाम निश्चित हो गये हैं। किसी मूर्ति को देखकर उसका नाम बताया जा सकता है। जैसे चामुण्डा, चण्डी, दुर्गा (महिषासुरमर्दिनी), छिन्नमस्ता, बगलामुखी आदि। ऐसी देवियाँ बहुधा उग्ररूपा होती हैं। लेकिन कई देवियाँ नाम से उग्ररूपा होकर भी कई स्थानों पर न तो नारी-वेश में हैं, न ही नरमुण्डों की माला व हाथ में तलवार खटवाङ्ग और नरमुण्ड से झरती रक्त की बूँदें। सिर्फ नाम दे रखा है, इसलिये भक्तगण भी उसी रूप में श्रद्धा रखते हैं। कई देवियाँ स्थानों के नाम से जानी जाती हैं जैसे विन्ध्यवासिनी विन्ध्याचल पर, नैनी नैतीताल में, दुर्गा दुर्गापुर में, कालिका कालका में आदि। कई देवियाँ नवीनतम खोजें हैं जैसे संतोषी माता जिसका किसी भी तन्त्र ग्रंथ में नाम नहीं है, वह उज्जैन में स्थित है।

तात्पर्य यह है कि देवियों के नाम-रूप भक्तों व ग्रंथकारों की मानसी-सृष्टि है। अटल व अरूप शक्ति को कहीं भी, कोई भी और कभी भी कोई सा भी रूप दिया जा सकता है, महत्वपूर्ण है साधना की सच्चाई।

9

बगलामुखी

नारद पांचरात्र सरीखे ग्रंथ के अनुसार धूमावती और बगलामुखी इस बात में समान हैं कि दोनों का वर्ण पीला है; धूमावती का वैधव्य और वृद्धावस्था के कारण है, बगलामुखी का यौवनपूर्णा होने के कारण स्वर्णिम है। वे पीताम्बरा इसी कारण कहलाती हैं कि उनका वर्ण पीला है और वे वस्त्र भी पीले धारण करती हैं (पतीम्बाराभरण माल्याविभूषितांगी)। धूमावती झगड़ालू और कभी तृप्त न होने वाली है। बगलामुखी गंभीर और मदहोश है। तन्त्रसार के अनुसार बगलामुखी की तीन आंख, चार हाथ जिनमें गदा, पाश, वज्र और बैरी की जीभ है। उन्नत स्तन उनके पूर्ण यौवन का प्रतीक हैं।

प्रादुर्भाव की कथा-

कल्याण मासिक पत्रिका के वर्ष 61 के शक्ति उपासना अंक में एक पौराणिक कथा दी गई है। बगला का प्रादुर्भाव सतयुग में हुआ है। उसी युग में एक बार संपूर्ण जगत् को नष्ट करने वाला तूफान आया। विष्णु सृष्टि के पालनकर्ता हैं। उन्हें प्राणियों के जीवन पर आया संकट देखकर चिन्ता हुई। वे सौराष्ट्र देश में हरिद्रा सरोवर के समीप बैठकर जगदीश्वरी भगवती को प्रसन्न करने के लिये उपासना करने लगे। देवी ने उन्हें सरोवर से निकलकर पीताम्बरा के रूप में दर्शन दिये। विष्णु के निवेदन पर उन्होंने तूफान के बढ़ते वेग को रोक दिया। देवी ने विष्णु को कहा कि राक्षस या दुष्ट प्राणी नहीं है जो जगत् या धर्म के स्वाभाविक प्रवाह को रोकता है। जगत् के चलते रहने में उनकी प्रसन्नता है।

साधना-

बगलामुखी की साधना प्राय: शत्रुभय से मुक्त होने और वाक्सिद्धि के लिये की जाती है। उस साधना में सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि वे उग्र स्वभाव की हैं। प्रसन्न होने पर वे भक्त को सरलता से वरदान भी दे देती हैं। उनकी उपासना में पीत वस्त्र, हरिद्रा-माला, पीत आसन और पीत पुष्पों के अर्पण का विधान है।

छिन्न-मस्ता

छिन्न-मस्ता बहु-प्रचलित नाम है; लेकिन इन्हें प्रचण्ड चण्डिका भी कहते हैं। इनका नाम, रूप और कार्य सभी विचित्र हैं। ये रौद्र रूपा उग्र देवी हैं, लेकिन जितनी उग्र हैं उतनी ही जल्दी प्रसन्न होने वाली भी हैं। इनका रूप देवियों के समस्त मूर्ति-जगत् में विरला है। इसकी कल्पना से भी भक्त को भय लग सकता है। 'छिन्नमस्ता' नाम प्रसिद्ध है लेकिन हैं 'छिन्न मस्तक वाली' या 'छिन्नशीर्षा' हाथ में खप्पर और कृपाण रखती हैं। कबन्ध या कटे हुए सिर से धड़ से निकले शोणित की धारा पीती रहती है। सिर पर नाग-बद्ध मणि का अलंकार है। खुले केश, नील नयन, हृदय पर कमल की माला और नग्न (दिगम्बरा) हैं। गले में अस्थियों व सर्प के हार हैं। कभी-कभी मुण्ड माला भी धारण करती हैं। उन्नत उरोज हैं, उनका दांयां पैर आसक्त-रति व काम के युग्म अर्थात् मनोभावों पर है। देवी के दांयें बांये दो नायिकाएं वर्णिनी और डाकिनी रहती हैं। वर्णिनी का रंग लाल, नग्न व बिखरे बाल हैं। डाकिनी की प्रभा प्रज्ज्वलित सूर्य के समान है; उसकी जटा में बिजली की सी चमक है। तीन नेत्र, दांत श्वेत, चेहरा भयानक है। लंबी जबान, बांयें हाथ में कपाल, दाहिने में कृपाण और छिन्नमस्ता के धड़ से निकली रक्त की तीसरी धारा का पान कर रही हैं। वर्णिनी और डाकिनी दोनों देवी की सेविकाएं हैं।

छिन्नमस्ता का स्वरूप भयानक है, और उनकी सखी डाकिनी का भी उतना ही भयानक है। वर्णिनी भी अपने रूप-रंग से भय उत्पन्न करती है, लेकिन भक्त को मनचाही वस्तु प्रदान करने वाली, मुक्ति-प्रदायिनी और सभी प्रकार का सुख (सर्वसौख्यप्रदायिनी) देने वाली है। पुत्र प्राप्ति, दारिद्र्य का नाश तथा कवित्व का वरदान भी देती है।

छिन्नमस्ता के प्रादुर्भाव की कथा–

एक बार भवानी अपनी सखियों के साथ मन्दाकिनी में स्नान करने के लिये गईं। स्नान के बाद बहुत तेज भूख लगी और उससे पीड़ित होकर वे कृष्णवर्ण की हो गईं। सखियों ने भवानी से कुछ खाने को मांगा। देवी ने थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के लिये कहा, लेकिन प्रतीक्षा करने के बाद भी देवी ने कुछ नहीं दिया, तब सखियों ने पुनः उनसे याचना की। देवी ने फिर थोड़ी देर रुकने को कहा। सखियों ने थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद कहा कि 'माँ तो शिशुओं को भूख लगने पर तुरंत भोजन प्रदान करती हैं।' यह सुनते ही भवानी ने अपने एक हाथ से अपना सिर काट दिया। कटा हुआ सिर भवानी के बांयें हाथ में गिरा और कबन्ध से रक्त की तीन धाराएं निकलीं। दो धाराओं को अपनी सखियों को देकर पीने को कहा। तीसरी धारा जो ऊर्ध्व गामी थी उसे वे स्वयं पीने लगीं। छिन्नमस्ता बौद्धों की वज्रयोगिनी के समान है।

धूमावती–

यह महाविद्या अन्य महाविद्याओं से विचित्र इस अर्थ में है कि इस महाविद्या का स्वरूप एक वृद्ध विधवा का है जिसका पीला रंग (बुढ़ापे के कारण विवर्ण) मैले वस्त्र, खुले बाल, कुछ ही दांत शेष हैं, स्तन लटके हुए, कठोर आंखें, बड़ी नाक, अंग-प्रत्यंग सुडौल नहीं हैं, हमेशा भूखी-प्यासी, डरावनी व झगड़ालू, क्रोधपूर्ण दृष्टि, चंचलता, एक हाथ में पंखा, दूसरा वरदमुद्रा में और मोटे शरीर के साथ ऊंचे कद से भय अधिक लगता है। एक रथ पर सवार है। उसके ध्वज पर कव्वे का प्रतीक है।

दसों महाविद्याओं में किसी भी देवी का स्वरूप एक वृद्धा-विधवा का नहीं है। कोई भी देवी ऐसी नहीं है जो भूखी प्यासी व डरावनी हो। बुढ़ापे के कारण पीतवर्ण, दंतविहीन और लटके स्तन वाली देवी है। रुद्रयामल व तन्त्रसार के लेखकों ने एक उग्र स्वभाव वाली वृद्धा का सजीव चित्रण किया है। अन्य उग्र महाविद्याओं जैसे काली, तारा छिन्नमस्ता व बगला के भी भयानक स्वरूप होते हुए भी नव-यौवना, सुंदर और आकर्षक हैं। रौद्ररूपा देवियां स्वरूप से उग्र हैं, किन्तु स्वभाव से सौम्य। निर्भीक साधक की वे सभी तरह से सहायता करती हैं।

प्रादुर्भाव की कथा-

इनके वैधव्य और क्रूर स्वरूप का कारण उनके प्रादुर्भाव से स्पष्ट होता है। एक बार पार्वती ने शिव से अपनी क्षुधा निवारण के लिये निवेदन किया। कई बार निवेंदन करने पर भी जब शिव ने ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने शिवजी को ही चबा डाला। तब उनके शरीर से धूमराशि निकली। इसी कारण वे धूमावती के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

उपासना–

धूमावती देवी की उपासना एकांत में रात्रि के समय नग्न होकर की जाती है। चूँकि वृद्धा हैं और जगज्जननी हैं, अतः साधक एक शिशु की तरह रहता है, जो कि साधरणतया नग्न ही रहता है। उग्र सिद्धियों और विशेषकर अभिचार कर्मों के लिये इस देवी की उपासना की जाती है।

रौद्ररूपा देवियां पाँच हैं–

षोडशी : पाँच सौम्यरूपा महाविद्याओं (षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, मातंगी व कमला) में हम प्रथम का वर्णन करते हैं।

षोडशी का दस महाविद्याओं में स्थान है। चूंकि इन महाविद्याओं को तन्त्र की देवियां माना जाता है इसलिये यह सोचना कि षोडशी की उपासना भी रौद्र रूपा महाविद्याओं की तरह अभिचार, इष्ट की पूर्ति व अनिष्ट को दूर करने और सांसारिक जीवन में फलदायिनी के रूप में की जाती है, उचित नहीं है, क्योंकि शक्ति-उपासना का अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है आत्म-साक्षात्कार या शिव-शक्ति के सामरस्य की अनुभूति प्राप्त करना। इस परमानुभूति से सांसारिक सिद्धियां अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। तान्त्रिक साधना की विशेष बात है कि वह व्यक्ति, समाज व देश सभी को उन्नत करने तथा उनकी उन्नति या कल्याण में बाधक शक्तियों का क्षरण करने में सहायक होती है। वह आत्मानुभूति प्राप्त करने की अवधि तक नहीं रुकती। व्यक्ति या समाज के सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, इष्ट-अनिष्ट क्षण आते हैं और थोड़ी देर के बाद विलीन हो जाते हैं। साधक या जन-साधारण सर्प से डस लिये जाने पर तुरंत औषधालय या तान्त्रिक की सहायता चाहता है। आत्म-साक्षात्कारी व्यक्ति

को तलाशना बड़ा ही कठिन है और भाग्य से मिल भी जाये तो संभावना हो सकती है कि उसका सांसारिक मोहमाया से लगाव छूट गया हो। ज्ञानमार्ग से प्राप्त आत्मानुभूति (बहुधा) आत्म-केन्द्रित होती है। वह जब तक अवतार कोटि में न चला जाए तब तक लोक-संग्रह की ओर मुड़ ही नहीं सकता। तान्त्रिक साधना के मार्ग में व्यक्ति व समाज की हित कामना प्रथम सीढ़ी है और आत्म-साक्षात्कारी दूसरी। षोडशी की उपासना में दोनों सीढ़ियों की उपलब्धि संभव है। लेकिन उसमें वाममार्ग अपनाने की आवश्यकता नहीं है। षोडशी की मूर्ति के चार हाथ होते हैं। लेकिन किसी हाथ की दो मुद्राएं—अभय व वरद नहीं होतीं। कारण स्पष्ट है कि तान्त्रिक देवियों की आराधना मनोवांछित फल पाने तथा भय से मुक्त होने के लिये ही की जाती है। जो षोडशी साधक को आत्मसाक्षात्कार के साथ ही दे देती है।

षोडशी के विभिन्न नामों की व्याख्या–

षोडशी शब्द 16 वर्ष की वय वाली नवयौवना देवी जिसके मंत्र में 16 बीज अक्षर होते हैं तथा : "श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ऊँ ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं सकल ह्रीं सौः ऐं क्लीं ह्रीं।"

चन्द्र की 16 कलाएं होती हैं। 16वीं कला पर चन्द्र पूर्ण होता है। इन्हीं उत्कर्षशील कलाओं का प्रतीक षोडशी है।

10

श्री विद्या

श्री चक्रम्

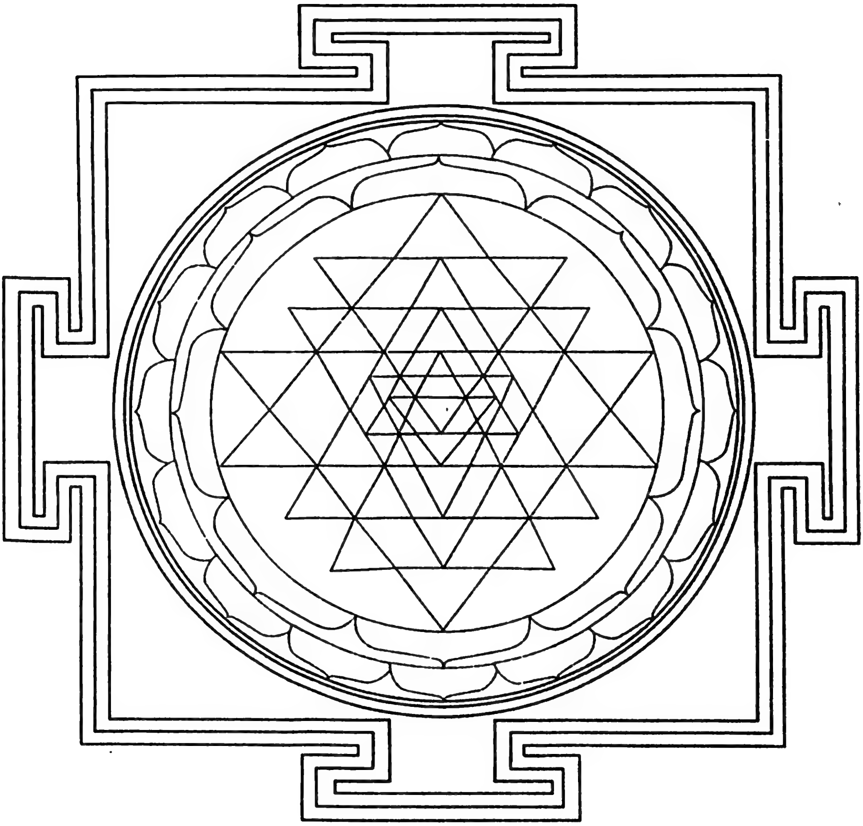

श्री विद्या का आरम्भ और विकास

श्री शब्द श्रेष्ठता का बोधक है। सभी महाविद्याओं में श्रेष्ठ होने से श्री विद्या का नाम पड़ा। कल्याण पत्रिका के 'शक्ति के उपासना' अंक वर्ष 61 के पृष्ठ 234 पर म.म.पं. श्री नारायण खिस्ते के अनुसार 'श्री' शब्द का सामान्यत: अर्थ लक्ष्मी ही प्रसिद्ध है, किन्तु 'हरितायन संहिता, ब्रह्माण्ड पुराण का उत्तर खण्ड आदि पुराणेतिहासों में वर्णित कथाओं के अनुसार 'श्री' शब्द का मुख्य अर्थ महात्रिपुरसुन्दरी ही है। 'श्री' शब्द का अर्थ महालक्ष्मी गौण है। खिस्ते महोदय ने गौड़पादकृत एक ग्रंथ 'श्री विद्या रत्न सूत्र' का संपादन किया है जो सरस्वती भवन सीरिज से प्रकाशित हुआ है।

श्री विद्या का नाम रुद्रयामल, मालिनी विजय, मुण्डमाला, ब्रह्मयामल आदि ग्रंथों में परिगणित दस महाविद्याओं में नहीं है। इनमें से मालिनी विजय को छोड़कर सभी 10वीं सदी के बाद के ग्रंथ हैं। लेकिन आदि शंकराचार्य जब 9वीं सदी में त्रिपुराम्बा, त्रिपुर सुंदरी व ललिता को षोडशी के समानार्थक रूप में विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकार करते हैं, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि षोडशी, ललिता या त्रिपुराम्बा शंकर के पूर्व तान्त्रिक साधना में मान्य थी। शंकर ने इस देवी को शृंगेरी मठ की अधिष्ठात्री मानकर (कामाक्षी) इसे अद्वैती वेदांत-साधना में स्वीकार किया है। इसी के साथ 'त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा', 'त्रिपुर सुन्दर्यष्टक', 'ललिता पंचरत्न' आदि शक्ति स्तोत्र ग्रंथों को लिखकर इस साधना को अधिक दृढ़ बनाया है।

अतः यह मानना कि 'श्री विद्या' शंकर की नवीनतम उद्भावना थी, उचित नहीं है। कारण यह है कि यदि वामकेश्वर तन्त्र को 8वीं सदी के पूर्व का ग्रंथ मान लें, तब तो इस तन्त्र के दो अंशों 'नित्यषोडशिकार्णव' तथा 'योगिनी हृदय' के आधार पर यह स्वीकार करना होगा कि 'श्री विद्या' शंकर के पूर्व प्रचलित थी; क्योंकि इन दोनों ग्रंथों में 'श्री विद्या' तथा 'श्री चक्र' का पूर्ण रूप से विधान किया गया है। इसी के साथ एक तथ्य यह भी है कि ब्रह्माण्ड पुराण (जो कि काणे महोदय प्राचीन एवं गुप्तकालीन मानते हैं) में 'ललितोपाख्यानं' और 'ललिता सहस्रनाम' दिये हैं और इसकी साधना का विस्तृत वर्णन भी है। इस आधार पर भी यह कहना उचित लगता है कि शंकर ने श्री विद्या तथा उसकी अधिष्ठात्री देवी की नई कल्पना तो नहीं दी है, लेकिन उसे अपनाकर उसे अधिक सम्मान दिलवाया है। शंकराचार्य उन 64 तन्त्रों को स्वीकार नहीं करते जो कि श्रीकण्ठी संहिता, लक्ष्मीधर, वामकेश्वर तन्त्र, भास्कर राय या सर्वोल्लास तन्त्र में गिनाये गये हैं। उनका मत है कि ये तन्त्र केवल धर्म, अर्थ व काम तक सीमित हैं। शिव ने 65वां एक नया तन्त्र शिवा की जिज्ञासा पूर्ति के लिये कहा था कि मोक्ष का साधन कौन सी साधना हो सकती है। इस शिव प्रोक्त तन्त्र का नाम 'श्री विद्या' तथा यन्त्र या चक्र का 'श्री यन्त्र' और अधिष्ठात्री देवी का नाम 'पराम्बा', 'ललिता', 'कामाक्षी' या त्रिपुरसुन्दरी है।

ललिता

स्वतन्त्र तन्त्र में कहा है 'स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता देवी हैं।' ब्रह्माण्ड पुराण के अंतर्गत ललिता सहस्र नाम से देवी के एक हजार नाम दिये गये हैं। शंकराचार्य का एक स्तोत्र है जिसका नाम ही 'ललिता पंचरत्न' है।

पद्म पुराण में ललिता की व्युत्पत्ति यह दी है–"लोकनतीत्य ललते ललिता तेन चोच्यते" अर्थात् संसार में अधिक शोभाशाली है, वही ललिता है। ललिता सहस्र नाम से देवी की मूर्ति को 'शृंगाररसप्रधानेयं मूर्ति' कहा है। मत्स्य पुराण (60.11) का मत है कि सती (शिव की प्रथम पत्नी) का नाम ही ललिता है।

त्रिपुरा या त्रिपुरसुन्दरी का तन्त्र में अर्थ

एक तान्त्रिक त्रिकोण जिसके प्रत्येक कोण पर एक-एक शक्ति है: इच्छा, ज्ञान, क्रिया। ये तीन शक्तियां देवी का विमर्श रूप है। शिव का स्वरूप है चिति और आनन्द। इस रूप में सक्रियता नहीं है। सक्रियता का रूप शक्ति या विमर्श में ही है जो इच्छा, ज्ञान व क्रिया के त्रिकोण के रूप में अभिव्यक्त है। इस त्रिकोण के तीन वर्ण हैं, यथा रक्त, शुक्ल और मिश्र। ये तीन कोण तीन तान्त्रिक पीठों के भी प्रतीक हैं जैसे कामरूप, पूर्णा गिरी व जालंधर। इसके सिवाय अन्य अर्थ हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी, ब्रह्माणी (अर्थात् तीनों लोकों की श्री); सुषुम्ना, पिंगला, इडा; मन, बुद्धि, चित्त। तान्त्रिक गण अपनी सुविधा और संदर्भ से कोई सा भी अर्थ ले लेते हैं। इससे त्रिपुरा के अर्थ में कोई भेद नहीं होता।

त्रिपुर सुन्दरी का अर्थ है अद्वितीय सौंदर्य वाली देवी। ललिता सहस्रनाम में उनकी शृंगार रस प्रधान मूर्ति कहने का यही तात्पर्य है।

कामेश्वरी या कामाक्षी

कामेश्वरी या कामाक्षी नाम भी अत्यंत प्रसिद्ध है। प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है कि शंकराचार्य द्वारा स्थापित 4 मठों-गोवर्धन (पुरी), शारदा (द्वारिका), ज्योति : या श्रीमठ (जोशीमठ बद्रिकाश्रम) और शृंगेरी (केरल) में प्रत्येक अधिष्ठाता देव और अधिष्ठात्री देवी हैं। शृंगेरी मठ चूंकि शंकर की जन्म भूमि और साधना-क्षेत्र रहा है, इस कारण यहां की परम्परा सुदृढ़ और समृद्ध रही है। कामाक्षी नाम के अधिक प्रचलित होने का यही कारण है। कामाक्षी (काम+अक्षी) या कामेश्वरी का अर्थ एक ही है—सृष्टि, संरक्षण की अधिष्ठात्री देवी। वह जगत की आद्या शक्ति है। शुद्ध-काम व शुद्ध-संकल्प में वैषम्य नहीं होता। अर्थात् विकल्प नहीं होता। मनुष्य का मन संकल्प-विकल्प युक्त होता है, इसी कारण उसे सुख-दुःख के द्वन्द्व का अनुभव होता है। देवी सभी द्वन्द्वों से मुक्त है। अत: सृजन और संहार अनवरत चलते रहते हैं।

ललिता सहस्रनाम के हजार नामों में से कुछ ही को चुनकर नीचे उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कारण यह है कि ये नाम अद्वैतदृष्टि सम्पन्न दक्षिणाचारी साधकों और संतों में बहुधा प्रचलित है।

त्रिपुरा, त्रिपर सुन्दरी, कामेश्वरी, कामाक्षी या ललिता के प्रादुर्भाव की पुराकथा

इस देवी के प्रादुर्भाव की पुराकथा अन्य देवियों से भिन्न है। ब्रह्माण्ड पुराण के अंतर्गत ललितोपाख्यान (अध्याय 44) दिया गया है, उसी में उस देवी के प्रादुर्भाव की कथा है। मत्स्य पुराण (60.11) में ललिता नाम आया है। लेकिन ललितोपाख्यान में देवी का नाम 'त्रिपुराम्बा' दिया है। कथा इस तरह की है–प्राचीन काल में भण्ड नामक एक असुर ने शिव की आराधना की। शिवजी ने तपस्या से प्रसन्न होकर अभय रूप का वरदान दिया। इससे प्रोत्साहित होकर भण्ड त्रिलोकी का अधिपति बन बैठा। उसने देवताओं से उनका हविर्भाग छीन लिया। जब वह इन्द्राणी को भी प्राप्त करने का प्रयास करने लगा तब सभी देवता गौरी (शिव पत्नी) के पास गये और उनसे इस अत्याचार की शिकायत की। वह देवताओं से अपनी पालकी ढोने के लिये मजबूर करता था। भण्ड ने अपनी राजधानी 'शोणितपुर' को मय राक्षस से और भी अधिक सुंदर बनवाकर उसका नाम शून्यकपुर रखा। स्वर्ग से देवताओं को निष्कासित करके उसे नष्ट कर दिया था।

भण्ड ने पुनः तपस्या करके अब की बार अमरत्व का वरदान प्राप्त कर लिया था। जब उसे विदित हुआ कि देवगण गौरी की शरण में पहुँचे हैं, तब वह क्रोधित होकर कैलाश गया और गणेश को भला-बुरा कहकर उनसे इन्द्राणी को सौंप देने के लिये कहा। गणेश जी भण्ड की ऐसी दर्पभरी वाणी सुनकर क्रोधित हुए और उससे युद्ध करने लगे। गौरी अपने पुत्र को अकेले ही दुश्मन से जूझते हुए देखकर अपनी सभी शक्तियों को लेकर युद्ध के मैदान में उतर गई। भण्ड ने गणेश को अंकुश के आघात से मूर्च्छित कर दिया। इस पर गौरी के क्रोध की कोई सीमा न रही। तब वे भण्ड को बांधकर मार ही रही थी कि ब्रह्मा ने उन्हें भण्ड को शिव से प्राप्त अमरत्व के वरदान का स्मरण करा दिया। पति का वरदान झूठा न पड़े इसलिये गौरी ने अपने हाथ रोक लिये।

देवगण अधिक त्रस्त हो गए। उन्होंने श्रीविद्या त्रिपुरम्बा की तपस्या की और एक महायाग किया। यज्ञ कुण्ड की ज्वाला से 'त्रिपुराम्बा' प्रकट

हुईं। उनका तेज इतना प्रबल था कि गुरु बृहस्पति को छोड़कर सभी देव अन्धे बहरे होकर मूर्च्छित हो गये। बृहस्पति ने अपने यजमान देव परिवार को इस तरह त्रस्त देखकर ब्रह्माजी के साथ देवी की अराधना प्रारंभ की। देवी ने प्रसन्न होकर उनका अभीष्ट पूछा। तब उन्होंने भण्ड की सारी काली करतूतों का भण्डा फोड़ किया। देवी ने उन्हें भण्ड का संहार कर देने का वचन दिया। जब भण्ड से युद्ध प्रारंभ हुआ तब देवी ने देव-सेना के आसपास एक ज्योति-पुंज खड़ा कर दिया जिससे भण्ड भ्रमित होकर और यह समझकर की देवों की सेना तो जल चुकी है, वह अपनी सेना के साथ वापस हो गया। परंतु देवी ने उसे ललकारा और उसे युद्ध करने के लिये विवश किया। देवी अपनी समस्त शक्तियों के साथ होने के कारण अधिक बलवती सिद्ध हो रही थी। अंत में जब त्रिपुराम्बा ने अपना महाकामेश्वरास्त्र चलाया, तब भण्ड अपने समस्त परिवार एवं सेना के साथ हताहत हुआ। देवगण भण्ड का नाश होने पर पुनः प्रसन्नता से अपना जीवन जीने लगे।

उपर्युक्त पुरा कथा संबंधी कुछ विचार–

भण्ड की कथा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ महिषासुर व शुंभ-निशुंभ की कथा ही लगती है जिसे दुर्गा सप्तशती में दिया गया है। इसमें संदेह नहीं है कि सप्तशती की कथाओं ने पूरे भारत के शाक्त एवं तान्त्रिक उपासकों को प्रभावित किया है और तद्नुसार उनका प्रभाव मूर्तिकला में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मांड पुराण के ललितोपाख्यान में भण्ड की कथा विशेष रूप से आई है।

डॉ. राजबली पाण्डेय ने हिन्दू धर्म कोश के पृष्ठ 566-67 में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। प्रथम, ललिता की पूजा में पशु बलि निषिद्ध है। दक्षिणाचार की देवी होने के कारण मांस व मदिरा का व्यवहार बिल्कुल निषिद्ध है; यद्यपि वामाचारी पद्धति से पूजा करने के लिये मांस व मदिरा के विकल्प के रूप में शाकाहारी रूप प्रस्तुत कर दिये हैं। तात्पर्य यह है कि दक्षिणाचारी पूजा होने पर वामाचार के उपयोग में आने वाले पंच-द्रव्यों का स्थान शाकाहारी या अहिंसक द्रव्यों ने ले लिया है। दूसरे "दक्षिण-भारत के दक्षिण मार्गी शाक्तों के मत

से ललिता सुन्दरी देवी ने, जो आँखों को चौंधिया देने वाली आभा से युक्त हैं, चण्डी (बंगाल की) का स्थान ले लिया है। इनके यज्ञ पूजा आदि की पद्धति चण्डी के समान ही है। चण्डी पाठ (दुर्गा सप्तशती) के स्थान पर ललितोपाख्यान, ललिता सहस्रनाम तथा ललिता त्रिशती पाठ होता है।" ये तीनों ग्रंथ ब्रह्माण्ड पुराण के अंश हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में मार्कण्डेय पुराण (दुर्गासप्तशती जिसका एक अंश है) की अपेक्षा ब्रह्माण्ड पुराण अधिक प्रचलित था, क्योंकि शंकर ने शृंगेरी मठ की स्थापना 9वीं सदी के प्रारम्भ में की थी, और उन्होंने कामाक्षी को आराध्या देवी माना था जो ललितोपाख्यान की 'त्रिपुराम्बा' है तथा शंकर के नाम से 'ललिता पंच रत्न', 'कामाक्षी स्तोत्र', 'त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा', 'त्रिपुर सुंदरी वेद पाठ' आदि ग्रंथ प्रचलित हैं। इससे प्रकट होता है कि मार्कण्डेय पुराण के बाद और 9वीं सदी के पूर्व ब्रह्माण्ड पुराण की रचना हो चुकी थी और इसके रचनाकार व्यास-परंपरा के दाक्षिणात्य शिष्य थे।

श्रीयन्त्र या श्रीचक्र

प्रत्येक शाक्त व तान्त्रिक देवी की साधना में यन्त्र, मन्त्र, न्यास, पूजा-सामग्री और विधि का महत्त्व होता है। अपनी आराध्या की उपासना या भक्ति के ये आवश्यक साधन होते हैं। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रत्येक देवी के लिये इन साधनों में भी भेद है। तान्त्रिक साधना में देवियां अलग-अलग फल देने वाली हैं। षट्कर्म (अभिचार जैसे वशीकरण, मारण आदि) के लिये रौद्र रूपा देवियों की साधना बतलाई जाती है। काली, तारा या बगलामुखी की साधना अभिचार कर्मों के लिये की जाती है। सौंदर्य, शक्ति व बुद्धि के लिये षोडशी, भुवनेश्वरी या भैरवी की आराधना अनुशंसित होती है। इसी प्रकार श्रीविद्या के लिये श्रीयन्त्र नियत है। इस विद्या का यन्त्र की साधना में वर्ण व लिंग का कोई प्रश्न नहीं है। किसी भी वर्ण व लिंग का व्यक्ति इसकी साधना कर सकता है और इसके मन्त्रों को समान रूप से सभी को दिया जा सकता है। योगिनीतन्त्र में शुद्ध बुद्धि रखने वाले सभी वर्णों को इस साधना में अधिकार है:

ब्रह्म क्षत्रिय विशः शूद्रा अर्चायां शुद्ध बुद्धयः॥

अर्थात् शुद्ध बुद्धि का शूद्र भी देवी की आराधना कर सकता है। इसी तरह श्री विद्यार्णव तन्त्र में कहा गया है कि भगवती त्रिपुरा मन्त्रों को सभी को, विशेषकर स्त्रियों को भी, दिये जाने में कोई आपत्ति नहीं है।

साधना एवं मन्त्रों में भेद

श्रीविद्या की साधना-परंपरा में 14 उपासक प्रसिद्ध हैं यथा मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, कामराज, अगस्त्य, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव, दुर्वासा, दत्तात्रेय व दक्षिणामूर्ति। इन उपासकों के भेद से साधना और मन्त्रों में भी भेद हैं। उदाहरणार्थ, त्रिपुरसुन्दरी के मन्त्र का तृतीय बीज है 'सौं'। यह दक्षिणामूर्ति के मत से विसर्गयुक्त (सौः) है, हयग्रीव के मत से 'सौंः'।

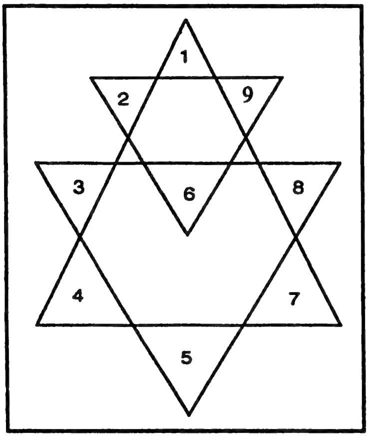

श्रीचक्र दो तरह का बनाया जाता है। प्रथम में तीन चक्र (त्रिभुज) और नव योन्यात्मक होता है। इन कोणों के नाम : धर्म, अधर्म, आत्मा, अंतरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, मातृ मेघ और प्रभा। दूसरे प्रकार में 9 त्रिभुज हैं। इनमें से 4 अधोमुखी और 5 उर्ध्वमुखी हैं। इन त्रिभुजों के नाम हैं : सर्वानन्दमय, सर्वसिद्धि, सर्वरोगहर, सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक, सर्व सौभाग्यदायक, सर्वसंक्षोभण, सर्वाशा परिपूरक, त्रैलोक्य् मोहन। प्रथम चार अधोमुखी व शेष 5 ऊर्ध्वमुखी हैं। इन चक्रों की अधिष्ठात्री देवियां भी हैं।

श्री यन्त्र का अर्चन

तन्त्र में प्रत्येक देवी की उपासना के तीन सोपान हैं : स्थूल, सूक्ष्म तथा पर विद्या। स्थूल के भी दो रूप किये जा सकते हैं : देवी प्रतिमा तथा यन्त्र। तन्त्रसार सरीखे ग्रंथों ने प्रत्येक देवी के स्वरूप का वर्णन करते हुए यह संकेत दिया है कि उस प्रकार की मूर्ति (मृतिका, काष्ठ, पाषाण, धातु या रत्न) की निर्मित की जा सकती है। दुर्गा पूजा के अवसर पर मिट्टी की ही मूर्तियां बनती हैं, और अंतिम दिन उनको नदी या सागर में विसर्जित कर दिया जाता है। लेकिन काष्ठ, धातु या पाषाण की मूर्तियां

स्थायी रहती हैं और उन्हें बहुधा देवालयों में स्थापित की जाती हैं। यदि साधना के लिये कोई उपयुक्त मंदिर न मिले तो एकांत में भी यन्त्र विशेष का विधिवत् निर्माण करके उसका पूजा अर्चन किया जा सकता है। अधिकतर तो देवी की प्रतिमा के सामने यन्त्र का निर्माण करके प्रतिमा के साथ उसका भी अर्चन किया जाता है। यन्त्र देवी का आकारित (आहूत, आमन्त्रित) स्वरूप है। यन्त्र को साक्षात् करके देवी के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। षोडशी, ललिता, त्रिपुरसुन्दरी या श्रीविद्या का भी एक निश्चित यन्त्र है जो कि श्रीचक्र या श्रीयन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीविद्या और श्रीयन्त्र के महत्व को इस आधार पर आंका जा सकता है कि गोपीनाथ कविराज जी के ग्रंथ तान्त्रिक साहित्य में तत्संबंधी 50-55 ग्रन्थों का उल्लेख है जो कि मुद्रित या हस्तलिखित रूप में विभिन्न प्राच्य ग्रंथालयों में उपलब्ध हैं। श्री यन्त्र को बनाने के दो रूप ऊपर दिये जा चुके हैं।

सूक्ष्म रूप से पूजा में षोडशाक्षरी श्रीविद्या मन्त्र का जप किया जाता है और पर रूप से आराधना में देह में श्रीयन्त्र की भावना की जाती है। अधिकांश साधक पूजा के तीनों सोपानों (स्थूल, सूक्ष्म व पर) पर क्रम से एक साथ पूजा-अर्चन-जप-ध्यान करते हैं। इससे फल प्राप्ति की संभावना बढ़ जाती है क्योंकि देवी पर ध्यान केन्द्रित होने के लिये कायिक, वाचिक और मानसिक आराधना एक साथ होती है।

यन्त्र का स्वरूप

प्रत्येक यन्त्र किसी न किसी देवी का आकारित-बीजाक्षर-अंकयुक्त सर्व सुलभ स्वरूप है। यन्त्र के निर्माण की कई विधियां हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी में सीधी रेखात्मक आकार हो। बीजाक्षर, या अंक हों, यह भी अलग-अलग संप्रदायों के अनुसार निश्चित होता है। वर्तुलाकार यन्त्र भी होते हैं, और वर्तुल को विराट-क्षेत्र मानकर उसमें सीधी रेखाओं के आकार भी होते हैं।

श्रीयन्त्र को शिव-शिवा का विग्रह कहा गया है—श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः। यह इस यन्त्र की विशेषता है कि इसमें एक तत्त्व का प्रतीक नहीं, बल्कि दो तत्त्वों (शिव-शिवा) की अद्वैत स्थिति में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

शैव दर्शन में इसे अर्द्धनारीश्वर का स्वरूप कहते हैं। यह जगत् शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप है। लेकिन जगत् की उत्पत्ति या सृजन के पूर्व शक्तिमान व शक्ति अद्वैत की स्थिति या प्रकाश स्वरूप में जब तक स्पंदन नहीं होता अर्थात् माता-पिता के दो रूपों में विभक्त नहीं होते तब तक सृजन असंभव होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से शिव-शक्ति का सामरस्य नित्य-सृष्टि व नित्य-संहार का ही प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन जब दृश्यमान जगत् (जड़-चेतन) का सृजन होता है तब हम उसे शिव-शिवा या पिता-माता (बिजली का बल्ब उसी समय जलता है जब दोनों पॉजिटिव व निगेटिव तार मिलकर बल्ब में शक्ति का संचार करते हैं) की शब्दावली में सरलता से समझ जाते हैं। यह जगत् माता-पिता के द्वैत से उत्पन्न हुआ-

'जनक-जननीमज्जगदिदम्'

यह प्रथम स्पंदन शिव-शक्ति की स्वेच्छा या स्वभाव से है। इस मूर्त जगत् का प्रतीकात्मक स्वरूप ही श्रीयन्त्र है। अतः श्रीयन्त्र और विश्व का तादात्म्य है। जो कुछ भी विश्व में है वह प्रतीक रूप में श्रीयन्त्र में है। श्रीयन्त्र के अर्चन में विश्वास किया जाता है कि इसमें 98 शक्तियों का अर्चन होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करती हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियां अपने सूक्ष्म रूप में पिण्ड (शरीर) में अवतरित होती हैं, अतः श्रीयन्त्र इस शरीर का भी प्रतीक हो जाता है। जब साधक अपने शरीर को ही श्रीयन्त्र रूप में भावित कर लेता है तब उसे शाप और अनुग्रह की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

श्रीचक्र का आकार

श्रीचक्र के आकार-निर्माण की विधि व अवधारणा का स्पष्टीकरण सौन्दर्य लहरी के श्लोक 11 में दिया गया है। इसमें 9 त्रिकोण होते हैं, इनमें चार श्रीकण्ठ और पांच शिव युवतियां या 4 शिव और 5-शक्ति के प्रतीक हैं। सृष्टि क्रम में 5 शक्ति-त्रिकोण ऊर्ध्व-त्रिकोण ऊर्ध्व-मुख और 4 शिव त्रिकोण अधोमुख (△▽) हाते हैं। ये त्रिकोण एक दूसरे से ऐसे क्रमवार गुंथे हुए हैं कि ये कुल मिलाकर 43 (त्रयश्चत्वारिंशत्) त्रिकोण बनाते हैं। केन्द्र वाले त्रिकोण में बिंदु का स्थान है जो कि बीज रूप शक्ति की अनंत अभिव्यक्तियों की संभावनाओं का प्रतीक है। मूल रूप से 9

त्रिकोणों में बनने वाली आकृति तीन वृत्तों से घिरी हुई है। प्रथम वृत्त की परिधि पर 8 दल कमल और द्वितीय परिधि पर 16 दल कमल हैं। तृतीय परिधि पर एक केन्द्र वाले तीन वृत्त रहते हैं। यह सम्पूर्ण आकृति एक चतुष्कोणीय सीमांत की तीन रेखाओं से सीमित है जिसमें चार दिशाओं के प्रतीक 4 द्वार रहते हैं। इसे भूपुर कहते हैं। श्रीचक्र की आकृति में बिन्दु, त्रिकोण व चतुष्कोण, तन्त्रानुसार तत्त्वों के प्रतीक हैं। यह चक्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का प्रतीक है। 9 मूल त्रिकोणों से बनने वाले 43 त्रिकोणों के अलावा श्रीयन्त्र की आकृति में 19 चतुष्कोण अन्तरस्थ हैं। अभी हम 43 त्रिकोणों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं–

1. अन्तरतम त्रिकोण में बीजशक्ति (बिन्दु रूप में) स्थित है।
2. इसके बाहर अष्टकोण हैं।
3. इसके पश्चात् अन्तर्दशार नामक 10 त्रिकोण हैं।
4. चतुर्थ स्तर पर बहिर्दशार नामक 10 त्रिकोण हैं।
5. पांचवें स्तर पर चतुर्दशार नामक 14 त्रिकोण हैं।

इस तरह (1)1; (2)8; (3)10; (4)10; (5) 14; कुल 43 हैं।

चतुष्कोण का विवरण

1. प्रथम त्रिकोण के बाहर और अष्टकोण के अंदर	3 चतुष्कोण
2. अन्तर्दशार के अन्दर और अष्टकोण के बाहर	4 चतुष्कोण
3. बहिर्दशार के अंदर और अन्तर्दशार के बाहर	6 चतुष्कोण
4. चतुर्दश त्रिकोण के अंदर	6 चतुष्कोण
कुल	19 चतुष्कोण

लयक्रम और सृष्टिक्रम

श्रीयन्त्र जगत् का प्रतीकात्मक स्वरूप है। जगत् में सृष्टि, पालन और संहार नित्य हैं। इन कार्यों को भगवती संपादित करती है (हेतु : समस्त जगताम् दु.स 4.7)। सौम्य रूपा होकर सृष्टि और पालन करती है और रौद्र रूपा होकर संहार करती है। भगवती या शक्ति का विश्व से बाहर कोई अस्तित्व नहीं है। वह जगत् में व्याप्त है। मिट्टी का एक कण भी

बिना शक्ति के इधर से उधर नहीं होता। सभी पवित्र स्थानों पर उसका वासस्थान है, जैसे शक्ति पीठ और भक्तों की हृदय स्थली [ललिता सहस्र नाम (श्लोक 156, विविक्तस्था); आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि दु.स. 11.4; विश्वात्मिका, विश्वाश्रया-दु.स. 11.33)]

श्रीयन्त्र विश्व और व्यक्ति का प्रतीक है। पिंड और ब्रह्मांड में परिमाणात्मक भेद है, लेकिन गुणात्मक भेद नहीं है। श्रीयन्त्र जिसके अंतरतम में एक त्रिकोण में बिंदु अवस्थित है। वह शक्ति का प्रतीक है। शक्ति अपने कार्य-सृजन, पालन और संहार का संकल्प करती है तब उसमें शिव की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह बिंदु या शक्ति अपने आप दो भागों में विभक्त हो जाता है—शक्ति और शिव। शिव शक्ति में निहित है जैसे कि तिल्ली में तेल। तेल अभिव्यक्त स्वरूप है। शक्ति में दो विरोधी तत्त्व शक्ति व शिव अद्वैतावस्था में रहते हैं, वही श्रीचक्र का बिंदु है। बिन्दु या शक्ति को जड़ या चेतन कहना एकांगी दृष्टि है। एक दृष्टि से उसे जड़ कहते हैं और दूसरी से चेतन। लेकिन देह में जिस तरह जड़ अंश शरीर रहता है; उसी तरह चेतन अंश भी रहता है। बिना चेतना के देह शव है, और बिना देह के चेतना का अस्तित्व नहीं है। निरपेक्ष जड़ या निरपेक्ष चेतन दार्शनिक जुगाली व गुत्थम-गुत्था के लिये ठीक हैं, लेकिन जहाँ तक आनुभविक जगत् का प्रश्न है दोनों अवियोज्य हैं। पत्थर का ढेला उठाकर पूछना कि 'क्या यह जड़ है?' मूर्खता होगी, क्योंकि स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि जड़ है; लेकिन यह दिखाई नहीं देता कि उसमें चेतन तत्त्व भी है। यह बात जितनी सत्य शाक्त मत और तन्त्र में है, उतनी ही दृढ़ता से शांकरी वेदांत में भी है। यदि ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है तो पत्थर भी तो जगत् का अंश ही है, फिर वह ब्रह्म से भिन्न कैसे? उत्तर है 'हमारी व्यावहारिक दृष्टि या माया की आवरण शक्ति।' 'कण-कण में भगवान् हैं' कहने वाला भक्त पत्थर की भगवान्-भाव से पूजा करता है।

लयक्रम और सृष्टिक्रम की तात्त्विक पृष्ठभूमि पर उपर्युक्त विचार इसलिये आवश्यक प्रतीत हुआ कि श्रीविद्या, श्रीसाधना व श्रीचक्र को व्यवस्थित रूप देने और एक वैज्ञानिक स्वरूप देने में शंकर की मुख्य भूमिका है; अतः सर्वप्रथम निष्कर्ष, जो विद्वान निकालते हैं, वह यह है

कि श्रीविद्या अद्वैत वेदांत की क्रियात्मक या व्यावहारिक प्रस्तुति है। इसका उद्देश्य भी जीव-ब्रह्मैक्य की अनुभूति है जो ज्ञान से सम्पन्न होती है। शंकर के अनुसार गीता का प्रयोजन है 'परम कल्याण अर्थात् कारण सहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना है। वह सर्वकर्म संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्म से प्राप्त होता है।' (शांकर भाष्य, भग. गीता भूमिका)। इसीलिये यह स्वीकार किया गया है कि "ज्ञान का लक्षण संन्यास है—'ज्ञानं संन्यास लक्षणम्।' कर्म व भक्ति से आत्मज्ञान संभव नहीं है, न ही ज्ञान भक्ति के समुच्चय से ही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है।"

व्यावहारिक धरातल पर शंकर भक्ति को अस्वीकार नहीं करते। उनके शिव, शक्ति, विष्णु गणेश स्तोत्र, गंगाष्टक व यमुनाष्टक तीर्थ महिमा का व्याख्यान करने वाले ग्रंथ, सौंदर्यलहरी और प्रपंचसार सब मिलकर पुष्टि करते हैं कि शंकर भक्ति को अंगीकार करते हैं। जो दार्शनिक श्रीविद्या में त्रिपुर सुन्दरी या ललितांबिका को परम तत्त्व मानकर, भक्तिभाव से 'ओं श्रीमत् त्रिपुरसुन्दर्यै नमः', 'ओं भक्तिगम्यायै नमः' और 'ओं भक्तिवश्यायै नमः (ललिता सह. संख्या 117 से 120) बात को और स्पष्ट कर देते हैं।

अनेक भारतीय व अभारतीय लेखकों ने श्रीविद्या या श्रीचक्र या कुण्डलिनी पर विवेचन में शंकर के अद्वैत तत्त्वों को सामने रखा है। कुण्डलिनी योग में कुण्डलिनी या शक्ति मूलाधार में सोई हुई है और जब वह जाग्रत होकर ऊर्ध्वमुखी हो जाती है तब अंत में सहस्रार में शक्ति का शिव, या जीव का शिव से संयोग हो जाता है। त्रिपुरसुन्दरी या ललिताम्बा के नाम नहीं लिये जाते। ऐसे लेखकों के लिये शिव व ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म सायुज्य या शिव सायुज्य भिन्नार्थक नहीं हैं। ललिता सहस्रनाम जो कि ब्रह्माण्ड पुराण का एक भाग है, स्वतः वेदांत परक है जिसमें तान्त्रिक सिद्धान्त को श्रीविद्या (सहस्र नाम 585), श्रीचक्र या चक्रराज (सहस्र नाम 245) के रूप में अपना लिया है। ब्रह्मांड पुराण शंकर के पूर्व की कृति है (अर्थात् 9वीं सदी के पूर्व)। शंकर ने त्रिपुरसुन्दी, ललिता, श्रीविद्या, श्रीचक्र आदि नाम इसी पुराण से अपनाये हैं। तन्त्रों का द्वैत या शाक्ताद्वैत के स्थान पर शांकर वेदांत की 'निर्विशेषा-द्वैत' वाली पृष्ठभूमि ग्रहण की है। त्रिपुरसुन्दरी या ललिताम्बा का उद्भव

अखण्ड, एकरस चिद्रूप (ब्रह्म) से हुआ है।' शक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। शक्ति व शिव का सामरस्य कहने से प्रकट नहीं होता कि शक्ति का उद्भव शिव से हुआ है। "ब्रह्मात्मैक्य स्वरूपिणी" (ललिता श्लोक 132) अर्थात् ब्रह्म व आत्मा को एकत्व स्वरूपा कहना शुद्ध रूप से वेदांती दृष्टि है।

तन्त्र की दृष्टि भिन्न है। उसमें शक्ति प्रधान तत्त्व है और सृष्टि, पालन व संहार के निमित्तार्थ शक्ति, शक्ति व शिव रूपों में अभिव्यक्त होती है। इनमें हमेशा सामरस्य है। सामरस्य की स्थिति में सृष्टि आदि कर्म घटित नहीं होते; लेकिन जब वैषम्य उपस्थित होता है तब सृष्टि इत्यादि कार्य संपन्न होते हैं। श्रीचक्र के अंतरतम में बिन्दु इसी सामरस्य का प्रतीक है। चूंकि नित्य-सृष्टि व नित्य-संहार होते रहते हैं जिसकी स्वप्रेरणा है भगवती की लीला या खेल जो नित्य चलता रहता है। उसको 'नित्यमुक्ता' इसलिये कहा जाता है।

श्रीचक्र के केन्द्र में बिंदु समष्टि सृष्टि का प्रतीक है। यह बिंदु शक्ति-शिव के सामरस्य को भी प्रकट करता है। जब स्वप्रेरणा से शक्ति एवं शिव भिन्न होते हैं तब व्यष्टि सृष्टि का प्रारंभ होता है। सृष्टि की प्रथम व्यष्टि अभिव्यक्ति त्रिकोण में होती है। रेखागणितीय दृष्टि से त्रिकोण ही सर्वप्रथम आकृति है जिसमें काल, दिक् व चेतना अन्तर्निविष्ट हैं। कोई भी वस्तु दिक् का एक अंश घेरती है, काल में अवस्थित है और चूँकि उसके नाम रूप की चेतना होती है; इसलिये इस वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है और यह अन्य से भिन्न भी है। त्रिकोण के बाद उसके आधार पर अनेक षट्कोण, अष्टकोण, द्वादशकोण आदि की आकृति बन सकती हे। हमें स्मरण रखना होगा कि श्रीचक्र में चतुर्दशार सर्वाधिक कोण हैं। इनका निर्माण 4 शिव त्रिकोण व 5 शिव त्रिकोण में अन्तर्गुंथन (Interlinking) से हुआ है।

सृष्टिक्रम या तिरोधान

श्रीचक्र के स्वरूप को देखकर निम्नलिखित क्रम स्पष्ट होता है:

(1) बिन्दु

(2) मूल त्रिकोण जिसकी तीनों भुजाएँ और तीनों कोण समान हैं

(3) अष्टकोण

(4) अन्तर्दशार (आभ्यंतर दस कोण)

(5) बहिर्दशार (बाह्य दस कोण)

(6) चतुर्दशार (14 कोण)

(7) अष्टदल पद्‌म

(8) षोडश दल पद्‌म

(9) तीन रेखाओं से घिरा हुआ चतुष्कोण जिसकी चारों दिशाओं में चार द्वार हैं।

तान्त्रिक भाषा में इसे भूग्रह या भूपुर कहते हैं।

यह सृष्टि क्रम का विकास या मूल बिंदु का तिरोधान है। लय क्रम इसके विपरीत प्रारंभ होता है, अर्थात् चतुष्कोण या भूग्रह से योगी या साधक की यात्रा प्रारंभ होती है और अंत में उसे बिंदु की अनुभूति प्राप्त होती है।

सृष्टि क्रम के प्रत्येक सोपान का तान्त्रिक साहित्य में विशेष अर्थ है। श्रीचक्र समष्टि और व्यष्टि दोनों का सृष्टिक्रम प्रस्तुत करता है। इसे हम परम सामान्य बिंदु से व्यष्टि की ओर जाना कह सकते हैं। यह पहिले ही संकेत दिया जा चुका है कि श्रीचक्र समग्र समष्टि का प्रतीक है और कोई भी ऐसी परम सत्ता नहीं है जो इससे बाहर हो।

जिन 9 त्रिकोणों से श्रीचक्र निर्मित होता है उनमें ऊर्ध्वमुखी 4 शिव (श्रीकण्ठ) के प्रतीक और अधोमुखी 5 शिव-युवतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय साहित्य में और विशेषकर तान्त्रिक साहित्य में प्रत्येक बिंदु, रेखा, आकृति, अंक, अक्षर व चित्र का कोई न कोई तान्त्रिक संकेत होता है। उपर्युक्त 9 त्रिकोणों को तान्त्रिक भाषा में त्रिकोणात्मक नवयोनि चक्र कहते हैं जो अन्तरतम बैन्दव चक्र से उद्‌भूत होते हैं। ये नव चक्र हैं : धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रमात्मक जीव, प्रमेय और प्रमा; इनमें चार (आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा) शिव या श्रीकण्ठ के प्रतीक हैं। शेष पाँच (धर्म, अधर्म, प्रमात्मक जीव, प्रमेय और प्रमा) शक्ति या शिव युवतियों के हैं। 'यह नवयोनि-चक्र भीतर और

बाहर से चिदानन्दमय अर्थात् चैतन्य, कलामय और पूर्णहन्ता स्फुरणात्मक आनंदमय है' (गोपीनाथ कविराज–श्री साधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,-1990, पृ.11)। यह नव-योनी चक्र ही श्रीचक्र के 9 रूपों में परिणित होता है–महाबिन्दु, प्रथम त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल कमल, षोडश दल कमल, भूपुर या तीन चतुरस्र। इन चक्रों के सर्वानंद, सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरक्षाकर आदि क्रमशः नाम दिये गये हैं। इन चक्रों के नाम से केवल वेदांत की शाक्त-दृष्टि का परिचय मिलता है, जिसमें आत्मा और जीव के ज्ञानात्मक और धर्मात्मक दृष्टिकोणों पर बल दिया गया है। तन्त्रों को जागतिक दृष्टिकोण से उनके द्वारा प्राप्त फलों व सिद्धियों को छोड़ दें तो लगभग समस्त तान्त्रिक साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि में वेदांत की मान्यताएं ही दी जाती हैं। कविराज जी, वुडरफ, शिवचन्द्र विद्यार्णव, पंचानन तर्करत्न, बोस व हलदार आदि विद्वान् इसी दृष्टिकोण के समर्थक हैं।

शुद्ध तान्त्रिक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि जब ऊर्ध्वमुखी चार त्रिकोणों को शिव या श्रीकण्ठ के प्रतीक तथा अधोमुखी 5 त्रिकोणों को शिव युवतियां मानने का अर्थ होगा कि जब शिव और शक्ति मूल अविभक्त बिंदु से स्वप्रेरति होकर शिव व शक्ति अर्थात् पुरुष व नारी में विभक्त होते हैं जिससे कि सृष्टि का प्रयोजन सिद्ध हो सके, तब इन त्रिकोणों का अर्थ पुरुष एवं नारी का स्वाभाविक गुणों की दृष्टि से भेद करना होगा। नारी को नारी बनाने वाले गुण हैं : योनी, रजोदर्शन, गर्भधारण, जनन एवं स्तनदात्री। ये गुण नारी को पुरुष से भिन्न करते हैं। इसी तरह पुरुष के गुण हैं : उपस्थ, बीजप्रदाता, अकर्म और साक्षी। इस तरह नारी के 5 गुण व पुरुष के 4 गुण ऐसे हैं जो एक दूसरे को विलग करते हैं। प्रत्येक त्रिकोण एक-एक गुण का प्रतीक है। शिव अपनी चार विशेषताओं और शक्ति अपनी पांच विशेषताओं के सामरस्य से सृष्टि का सृजन, स्थिति और संहार करते हैं।

सृष्टि के सोपानों की व्याख्या

एक से अनेक होने के लिये अनेक सोपानों को पार करना पड़ता है। अनेकता सृष्टि है और एकता पारमार्थिक सत्य या परम-तत्त्व। एक बीज

रूप है जिसमें अनेकता अन्तर्निहित है जो अभिव्यक्त होने पर सृष्टि का नानात्व ग्रहण कर लेती है जैसे कि वटवृक्ष के बीज में अनभिव्यक्त वटवृक्ष है जो अभिव्यक्त होने पर विशाल शाखाओं, पल्लवों व पुष्पों में प्रकट होता है।

1. इसी तरह श्रीचक्र में बिन्दु विश्व बीज है। इसे अनेक नामों से जाना जाता है। बिन्दु को महाबिन्दु भी कहते हैं। यह सृष्टि का प्रस्थान बिन्दु और अवसान स्थिति भी है। इसे तान्त्रिक भाषा में तिरोधान व अनुग्रह कहा जाता है। साधारण भाषा में सृष्टि और प्रलय बिन्दु यही है। विश्व बिन्दुरूप महाशक्ति या जगन्माता का कार्य है। (हेतुः समस्त जगत्ताम, दु.स. IV-7)। यह जगत् आपका अंशभूत है (जगदंश भूतम्)। बिन्दु परा इस अर्थ में है कि सृष्टि की रचना उसी से होने के बाद भी सृष्टि से अलग है, और अपरा इस अर्थ में कि बिन्दु के अंश से सृष्टि की रचना हुई है। दुर्गा स. I.82 में 'परापराणां परमात्वमेव' अर्थात् शक्ति या परमेश्वरी पर और ऊपर सब से परे रहने वाली है। अद्वैत वेदांत के समर्थक इसी कारण श्रीचक्र में अन्तरतम त्रिकोण के ऊपर बिन्दु की स्थिति मानते हैं, जबकि शाक्त और तन्त्र की दृष्टि से बिन्दु (महाबिन्दु) का स्थान त्रिकोण के केन्द्र में है। कारण यह है कि तन्त्र में शक्ति परे रहकर सृष्टि की रचना नहीं करती। मकड़ी का जाला व मकड़ी जैसा संबंध है सृष्टि व शक्ति में। सृष्टि शक्ति नहीं, शक्ति का रूप है। वह नाना रूपों में स्वेच्छा से अभिव्यक्त होती है और स्वेच्छा या अनुग्रह से अपनी सृष्टि को समेट लेती है जिसे संहार भी कहा जाता है।

इस बिन्दु को अद्वैत वेदांत का आग्रह रखने वाले ब्रह्म कहते हैं। शिवाद्वैत की दृष्टि से यह बिन्दु शिव है। शाक्ताद्वैत व तन्त्राद्वैत की दृष्टि से वही शक्ति व शिव का सामरस्य है। दुर्गा स. IV-7 में इसी बिन्दु को सब का आदिभूत (आद्या) तथा अव्याकृत परमा प्रकृति कहा है। (अव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या) यह दृष्टि मूल सांख्य शास्त्र और तन्त्र की दृष्टि से अधिक मेल खाती है। निरीश्वर सांख्य में प्रकृति का स्वभावेण विकास होता है, उसे किसी पुरुष की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है। यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी मेल खाती है जिसमें मैटर स्वभाव से गतिशील है,

और गति के कारण उसमें शक्ति आ जाती है। इस शक्ति के विभिन्न रूप संसार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रकृति-पुरुष, शक्ति-शिव, नारी-नर का द्वैत अर्द्ध नारीश्वर की कल्पना में समाप्त हो जाता है। किसी तत्त्व को देखने की ये दो दृष्टियां हैं। यह व्यावहारिक व आनुभविक द्वैत यथार्थ नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक पुरुष या नारी में दोनों तत्त्व निहित रहते हैं। माता-पिता से प्राप्त जीवाणु व शुक्राणु गुणसूत्रों में परिवर्तित होकर एक प्रक्रिया से भ्रूण में लिंग का निर्णय करते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वैत की दृष्टि एकांगी है। जड़ व चेतन का भेद एकांगी चिंतन के फलस्वरूप दिखाई देता है। वास्तव में जड़ व चेतन और शक्ति व शिव में द्वैत नहीं, अद्वैत या सामरस्य की स्थिति है। इस दृष्टि को स्वीकार करने पर किसी एक तत्त्व की प्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता। न शिव शुद्ध चिद् रूप हैं न शक्ति शुद्ध जड़ रूप। शक्ति जड़ व चेतन के द्वन्द्व से परे है, अर्थात् यथार्थ के दोनों रूप शक्ति के अभिव्यक्त होने पर विदित होते हैं। उसमें दोनों तत्त्व निहित हैं। जब अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त सृष्टि विकसित होती है तब ये भेद नजर आते हैं। इस तरह बिन्दु या महाबिन्दु शिव-शक्ति का सामरस्य है जो अभी व्यक्त सृष्टि नहीं बना। यह गति सूक्ष्म से स्थूल, निराकार से साकार और अभेद से भेद की प्रक्रिया है। नाना रूपा सृष्टि बिन्दु के अद्वैत में उसी तरह स्थित है जैसे कि बीज में वटवृक्ष।

2. श्रीचक्र का द्वितीय सोपान त्रिभुज है जिसके केन्द्र में बिन्दु है। बिन्दु केवल प्रथम चक्र (त्रिभुज) का ही केन्द्र नहीं, श्रीचक्र की पूर्ण आकृति का भी केन्द्र बिन्दु है। इसका अर्थ यह है कि पूरा विश्व शिव-शक्ति के सामरस्य से उद्भूत होकर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें शिव-शक्ति किसी न किसी अंश में विद्यमान न हो। जागतिक अनुभव के जड़ में अनभिव्यक्त चेतन है। जड़-चेतन के द्वन्द्व में देखने वाली जागतिक दृष्टि के सामने एक प्रश्न बार-बार उठता है कि बिन्दु या जड़ या चेतन को व्यष्टि रूप से प्रकट होने के लिये कौन प्रेरित करता है? क्या कारण है? इसका तन्त्र में एक ही उत्तर है कि यह स्वेच्छा, स्वप्रेरणा या स्वभाव से होता है। सूर्य

अपने स्वभाव से चमकता है और नदियाँ अपने स्वभाव से बहती हैं। खगोल विद्या और भूगोल विद्या से कारण तलाश कर बताये जा सकते हैं, लेकिन प्रश्न उठेगा कि उन कारणों का कारण क्या है? बचने के लिये ईश्वर के मत्थे मढ़ा जा सकता है, लेकिन यह ज्ञान का उत्तर अज्ञान (या अज्ञेय) से देना होगा। वास्तविक तथ्य यह है कि विश्व में एक ऋत या व्यवस्था है वही खगोलीय या भौगोलिक तत्त्वों की व्याख्या है और वही उनका स्वभाव है। उसी तरह बिन्दु में दो विरोधी तत्त्वों का समन्वय है। यह समन्वय बिजली का प्रकाश है न कि विधायक तार या निषेधक तार। यही समन्वय या सामरस्य शिव-शक्ति का है जिसमें सृजन, संहार व स्थिति की अनंत संभावनाएं हैं और जो कि स्वभाव से ही संपन्न हो रहा है।

त्रिभुज व्यष्टि और समष्टि की योनि व महायोनि है। इसी योनि के केन्द्र में बीजरूप बिन्दु है जो स्वेच्छा से त्रिभुज में प्रकट होता है। गोपीनाथ कविराज के शब्दों में "विश्व रचना के मूल में त्रिकोण का निर्माण होता है,...... श्रीचक्र एक ओर समष्टि अथवा महासमष्टि विश्व है, दूसरी ओर व्यष्टि मानव देह है' (श्री साधना, पृ. 15)। इस त्रिभुज की विशेषता है कि इसकी तीनों भुजाएं समान और आंतरिक कोण भी समान हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह बिन्दु के परम साम्य की त्रिकोणात्मक सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ है व्यष्टि भाव। व्यष्टि-भाव में परिमाण, दिक् व काल का भेद उपस्थित हो जाता है। लेकिन आदि त्रिकोण में दिक् काल व परिमाण अनादि व अनंत हैं। त्रिकोण बिन्दु से भिन्न है, क्योंकि बिन्दु निरपेक्ष अस्तित्व है जबकि त्रिकोण सापेक्ष अस्तित्व है; वह बिन्दु पर आश्रित या बिन्दु उसका कारण है। इसे निराकार (बिन्दु) और साकार (त्रिकोण) भी कहा जा सकता है।

त्रिकोण का महत्त्व

तन्त्र में और विशेषकर श्रीसाधना में त्रिकोण व त्रिपुर शब्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परम शक्ति का नाम त्रिपुरसुन्दरी या त्रिपुरा दिया गया है। ललिताम्बा के साथ त्रिपुरसुन्दरी नाम भी बहुप्रचलित है। श्रीचक्र में 9 मूल चक्र हैं, और इनके आधार पर निर्मित 43 चक्र या त्रिकोण हैं। पूर्ण श्रीचक्र की आकृति में 19 चतुष्कोण भी हैं। लेकिन मुख्यता

त्रिकोण की है, क्योंकि चतुष्कोण या कितने ही कोण वाली आकृति हो, उसे त्रिकोणों में विभाजित किया जा सकता है। इस तरह मूल त्रिकोण ही रहता है।

श्रीचक्र का मूल प्रयोजन सृष्टि (समष्टि या व्यष्टि) के निर्माण की प्रक्रिया है जिसमें साधना-पक्ष की दृष्टि से यह संकेत करना है कि शक्ति या शिव-शक्ति सामरस्य की अनुभूति, सृष्टि प्रक्रिया को समझकर, प्राप्त करना है। यह वेदांत वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की एक सुंदर व्याख्या है। सृष्टि भी ब्रह्म है, लेकिन अज्ञान-तिमिर से घिरा हुआ मनुष्य उसे आनुभविक आधार पर जड़ सृष्टि समझता है। ब्रह्म या शक्ति में जड़-चेतन का भेद नहीं है। यह हमारे अज्ञान, जिसे हम आनुभविक कहते हैं, का फल है। तन्त्र में इसे विसर्ग या शक्ति का विमर्श रूप कहते हैं। तन्त्र में चिदाद्वैत का आग्रह नहीं है, क्योंकि मूल तत्त्व न शिव, न शक्ति है, वरन् दोनों की सामरस्य की स्थिति है। शैव मत में चिदाद्वैत के समर्थक शिव को चिद् रूप मानते हैं और उन्हीं से सृष्टि का विकास होता है; लेकिन तन्त्र में शिव-शक्ति का अद्वैत या सामरस्य मूल तत्त्व है जिससे सृष्टि का निर्माण हुआ है।

प्रत्येक सृजन के निर्माण में काल, दिक् व परिमाण अनिवार्य तत्त्व हैं। इसका अर्थ यह है कि अनंत व अनादि दिक् को आदि और अंतवान बनाने के लिये कम से कम तीन कोण होना चाहिये। इन कोण बिन्दुओं को रेखाओं से जोड़ने पर त्रिकोण या त्रिभुज बन जाता है। दो रेखाओं से दिक् बंधित नहीं होता। अतः त्रिकोण काल-दिक्-परिमाण से प्रतिबंधित अनंत व अनादि दिक् है। सृष्टि को साकार बनाने के लिये प्रथम आकार त्रिकोण है। प्रश्न उठता है कि क्या गोलाकार आकृति नहीं है? गोलाकार आकृति है, लेकिन उसमें परिमाण के अभाव में ज्ञेय-वस्तु का भाव नहीं आता। बिन्दु और सिन्धु में प्रसार का भेद होता है; बिन्दु में कोई परिमाण नहीं होता, अतः सिन्धु में भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह मापन-योग्य नहीं है। हमारा आशय यह है कि जिस तरह किसी वस्तु का नाप-तोल हो सकता है, उस तरह गोलाकार का संभव नहीं है। इसी कारण तन्त्र की विज्ञान-सम्मत दृष्टि त्रिकोण ही अपनाती है।

श्रीचक्र के केन्द्र में बिन्दु है जो प्रथम त्रिभुज या महायोनि में शिव-शक्ति के सामरस्य की स्थिति में बीज-शक्ति का परिचायक है। अद्वैत वेदांती चूंकि चिद् रूप ब्रह्म से सृष्टि का उद्‌गम मानते हैं, अतः इस परम-सामान्य को दर्शाने के लिये प्रथम त्रिभुज पर बिन्दु (▽̇) को बिठाते हैं। यह अद्वैत वेदांतियों का श्रीचक्र की सीधी और स्पष्ट व्याख्या पर वेदांती ब्रह्म का आरोपण मात्र है। अतः हम अपनी व्याख्या के लिये प्रथम त्रिभुज या श्रीचक्र की समग्र आकृति के केन्द्र में बिन्दु का स्थान मानते हैं। ललिता सहस्रनाम (155)-से निरीश्वरायैनमः "ॐ" का अर्थ ही यह है कि शिव-शक्ति के सामरस्य से परवर्ती या ऊपर अन्य कोई परम सत्ता नहीं है। अभी त्रिभुज की व्याख्या के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि श्रीचक्र में आबंटित अलग-अलग त्रिज्या (रेडियस) के तीन गोलाकारों की व्याख्या का प्रयास करें। प्रथम गोलाकार 43 त्रिकोणों से निर्मित पूर्ण आकृति को 6 स्थानों पर स्पर्श करता हुआ बनता है। इस गोलाकार के अन्तर में त्रिकोणों से बनी आकृति है और बाहर परिधि पर अष्टकमल अवस्थित हैं। दूसरा गोलाकार अष्टदलों के ऊपरी बिंदु को छूता हुआ पूर्ण होता है और इसकी परिधि पर षोडश दल कमल हैं। तीसरे गोलाकार में तीन गोलाकार हैं जो एक दूसरे के समीप हैं। प्रथम गोलाकार षोडश दल कमल को छूता हुआ पूर्ण होता है। श्रीचक्र के बाहर भूग्रह या भूपुर है जोकि एक तरह से अनुभव की सृष्टि (व्यष्टि अस्तित्व) का समारंभ है। इसका अर्थ यह है कि बिंदु से भूपुर की अंतःसीमा तक पर सामान्य से अवर सामान्य व निम्न अवर सामान्य तथा व्यष्टि अस्तितव तक का प्रसार है। श्रीचक्र में 43 त्रिकोण 43 योनियां हैं जिनमें कि बीज-रूप सामान्य हैं जो कि महायोनि का पर सामान्य नहीं है। यद्यपि प्रकाश व विमर्श का वही स्रोत है। एक उदाहरण से समझने का प्रयास करें।

जल पर सामान्य है, नदियों का जल अवर सामान्य और घड़े का जल निम्न अवर सामान्य। गिलास में निकाला जल आनुभविक सृष्टि है। जिससे प्यास बुझती है। घड़े का जल निम्न अवर सामान्य इसलिये है कि उसमें से एक गिलास निकाल लेने पर घड़ा खाली नहीं हो जाता। जल

कहीं से भी लें तृषा शांत करना व तरल होना उसके गुण है। लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि जल के भी ऊर्ध्व सामान्य रूप हैं, जैसे हिमालय का बर्फ, वाष्पकण, बादल, समुद्र का तपता हुआ जल। इसके भी ऊपर इसमें आकाश, वायु व अग्नि के परमाणु एक अनुपात में मिले हुए हैं। इस तरह अनेक से एक व एक से अनेक का क्रम सृष्टि में चलता रहता है। गोचर पदार्थ जैसे आम में विशेष होते हुए भी उसमें सामान्य तत्त्व हैं जैसे रस, छिलका, गुठली, रूप, गंध आदि। जिसे मैं खा रहा हूँ वह विशिष्ट इसलिये है कि इसमें ये सभी सामान्य तत्त्व अन्य में समान होते हुए भी विशेष हैं। तात्पर्य यह है कि परम शक्ति या प्रकृति, बिन्दु रूपा शिव-शक्ति का सामरस्य प्रत्येक सामान्य में तो वर्तमान है ही, वह प्रत्येक व्यष्टि में भी है। इसी कारण महायोनि के बिन्दु को सामान्य का सामान्य (universal of universals) कह सकते हैं।

यही बात अष्टदल के आधार, षोडश दल के आधार और उसको परिवेष्टित करने वाले तीन गोलाकार सामान्य के प्रतीक हैं। अष्टदल में 33 व्यंजनों का (क वर्ग, च वर्ग) क्रम से स्थान है और षोडश दल में 16 स्वरों का स्थान है। ये वर्ण मिलकर शब्द बनाते हैं जो किसी अर्थ के वाचक होते हैं। महायोनि व बिन्दु से विकसित होती सामान्यों की सृष्टि रूपवान होती है और शब्द उन्हें नाम दे देते हैं। इस तरह नाम-रूप की सामान्य सृष्टि प्रकाश में आती है। इसी सामान्य की सृष्टि से व्यष्टि का प्रादुर्भाव होता है। जैसे जल, मिट्टी, अग्नि व कुम्हार के विचार और परिश्रम आदि सामान्यों से घड़े का निर्माण होता है।

वेदांत और तान्त्रिक दृष्टि में भेद

दोनों ही परम तत्त्व संबंधी मान्यताओं के आधार पर श्रीचक्र की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं जो कि स्वाभाविक है। वेदांत के अनुसार परम तत्त्व ब्रह्म है जो 'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्' या 'सत्, चिद् और आनन्द' है। अत: सृष्टि का विकास इसी तत्त्व से होगा। चिद् ब्रह्म से विकास की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि वह निर्गुण, निराकार, निरवयव, अनादि व अनंत है। जो सृष्टि दिखाई देती है वह मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय है। केवल ब्रह्म सत्य है और जीव ब्रह्म का उपाधिग्रस्त रूप

है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वेदांतियों ने सृष्टि के विकास पर विचार नहीं किया है। वे बहुधा सांख्य के परिणामवाद को आधार बनाकर विवर्तवाद आरोपित कर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं।

शैव धर्म शिव को वेदांत के ब्रह्म (चिन्मय या चिद्रूप) की तरह मानकर विकास की बात करते हैं। शाक्ताद्वैत मत के समर्थक शक्ति व ब्रह्म को समान मानते हैं, लेकिन पृष्ठभूमि वेदांत की ही रहती है। जैसे जब ब्रह्म सृष्टि, स्थिति और संहार करता है तब शक्ति कहलाता है और जब निर्गुण निराकार रूप में रहता है तब ब्रह्म। लेकिन तन्त्र की दृष्टि इन से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि बिन्दु रूप परम तत्त्व में शिव-शक्ति का सामुज्य या सामरस्य रहता है, उनमें अभेदात्मक भेद है; अर्थात् उसमें लिंग भेद या जड़-चेतन का भेद नहीं है। भेद अभिव्यक्ति तथा अपूर्ण के प्रतीक हैं। परम-तत्त्व बिन्दु में भेद स्वेच्छा से होते हैं। गति उसका स्वभाव है। जब तिरोधान शक्ति (जिसे तान्त्रिक शब्दावली में विसर्ग, साधारण तथा विकास या शैव धर्म के अनुसार विमर्श कहते हैं) कार्य प्रारंभ करती है तब एक तत्त्व ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो जाता है। प्रारंभिक स्थिति में ये रूप पर सामान्य है, क्योंकि अभी व्यष्टि या वस्तुभाव प्रकट नहीं है जैसे कि दीपक के पहले मिट्टी। जब वेदांत की दृष्टि से व्याख्या की जाती है तब शिव या ब्रह्म या शक्ति जोकि चिन्मय है उसमें दर्पण में जिस तरह वस्तु-जगत् का प्रतिबिंब होता है, इसी तरह यह सृष्टि चिन्मय परम तत्त्व में एक प्रतिबिंब है। यह सृष्टि ब्रह्म का आभास है जोकि माया के कारण सत्य प्रतीत होता है। शंकर के शब्दों में :

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम् मायया बहिरिव उद्भूतम्

लेकिन तन्त्र इस नानात्मक संसार को सत्य मानता है। पहाड़, नदी, वृक्ष, प्राणी, नारी आभास नहीं, वास्तविक एवं यथार्थ हैं। सभी महाबिन्दु से अभिव्यक्त हुए हैं। रहा प्रश्न मानव-जीवन में आने वाले सुख-दुःख के द्वन्द्वों व राग-द्वेष का। ये मानव समाज में होने वाली क्रिया-प्रक्रिया के कारण उत्पन्न होते हैं। तान्त्रिक साधना तथा सिद्धि-प्राप्त तान्त्रिकों की सहायता से इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

महायोनी की अभिव्यक्ति

उपर्युक्त विचार की पृष्ठभूमि में श्रीचक्र में विमर्श या विकास की व्याख्या की जा सकती है। यह प्रथम त्रिकोण है जिसके केन्द्र में महाबिन्दु अवस्थित है। पहले ही यह संकेत दिया जा चुका है कि पूरे श्रीचक्र के 43 चक्रों में केवल यही चक्र ऐसा है जो समभुज व समकोण है। इसका अर्थ यह है कि इस चक्र में व्यष्टिभाव होते हुए भी वस्तु-रूप नहीं है। यह अपर सामान्य है (जैसे मिट्टी) जो अभी भी अनेक अपर सामान्यों से निकलकर व्यष्टि भाव में पहुंचेगा।

परा बिन्दु की तान्त्रिक दृष्टि के शिव-शक्ति सामरस्य के स्थान पर वैदिक भाषा में अग्नि और सोम, अंबिका और शांता; शैव मतानुसार प्रकाश और विमर्श कहते हैं। परा बिन्दु का प्रथम उन्मोचन अग्नि-सोम के द्वैत में हुआ और तदनन्तर त्रैत बिन्दु की अभिव्यक्ति हुई। वेदांतानुसार इसका विकल्प निम्नानुसार हुआ :

पराबिन्दु				परा (नाद)
अग्नि	पश्यति	मध्यमा	सोम	
अंबिका	इच्छा	ज्ञान	शांता	
(शक्तियां)			(रूप)	(शब्द)
वामा			(इच्छा)	पश्यन्ति
ज्येष्ठा	क्रिया		ज्ञान	मध्यमा
रौद्री	बैखरी		क्रिया	बैखरी

एक व्यक्ति के रोगमुक्त होने पर संसार के सभी लोग रोग मुक्त नहीं होते। प्रत्येक को अपनी क्षमता के अनुसार प्रयास करना पड़ता है।

अष्टार

महायोनि के तीन बिन्दुओं सत, रज व तम से अपर सामान्य के 8 चक्र (त्रिकोण) हैं जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, अहंकार और महत् हैं। इन तत्त्वों को भगवद्गीता VII-4 में 'अष्टधा प्रकृति'

कहा है।[1] इन तत्त्वों में किसी तरह का जड़ व चेतन का वर्गीकरण नहीं है। एक-एक तत्त्व एक-एक चक्र का स्वामी है। फिर भी ये तत्त्व स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते। सभी मिलकर एक समष्टि-मूलक या व्यष्टि-मूलक तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव देह पंच महाभूतात्मक है जिसमें शरीरस्थ आत्मा है। शरीर व आत्मा के दुर्लभ संयोग का नाम मनुष्य है। आत्मा देह में चेतन तत्त्व का प्रतिनिधि है जो मन, अहंकार और महत् के रूप में अभिव्यक्त होता है। प्राण भी एक रूप है जो चेतन का प्रतीक है। मृत देह में प्राण, मन, अहंकार, व बुद्धि का लेश नहीं रहता। इसका आशय यह भी है कि प्राण-संचार के बाद गर्भ में ही ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों तथा मस्तिक का निर्माण होता है। जन्म से ही शिशु, प्राणवान, इन्द्रियों तथा मस्तिष्क की शक्तियों से संपन्न होता है। प्राण में परिवर्तन नहीं होता, लेकिन परिवेश के प्रभाव के कारण बहिर्मुखी इन्द्रियां कार्य करने लगती हैं और आधार पर मन, अहंकार, व बुद्धि का निर्माण प्रारंभ हो जाता है। ये मानसिक तत्त्व परिवर्तनशील हैं। इनमें अवनति-उन्नति दोनों की संभावना रहती है।

मन अहंकार व बुद्धि के निर्माण का आधार है। उदात्त और सुसंस्कृत मन अहंकारी नहीं होता। साधना से अंहकार-नाश संभव है। अहंकार की परिष्कृति से बुद्धि निर्मल हो जाती है। अतः शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि में कोई अंतर नहीं है। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं, "शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा, ये एक ही वस्तु हैं' (श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग द्वितीय, 1963, पृ. 293)। इसका अर्थ यह है कि मन अहंकार, बुद्धि और आत्मा एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उदाहरण के लिये दूध-दही-मक्खन-घी में रूप-भेद है, स्वाद-भेद, रंग-भेद, गुण-भेद, स्थूल-सूक्ष्म-भेद आदि हैं, लेकिन सभी का मूल आधार एक ही तत्त्व दूध है। इनमें भेदाभेद का संबंध है,

1. एक मत यह है कि शिव चतुरस्र-शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शिवत्व, और जीव चतुरस्र-माया, माया से उद्‌भूत, मन, अहंकार, व बुद्धि का प्रतिनिधित्व करने वाले 8 चक्र या त्रिकोण हैं, गोपीनाथ कविराज, श्री साधना पृ.23)। लेकिन यह मत कष्ट-कल्पना है क्योंकि शिवाद्वैत की दृष्टि से व्याख्या है न कि तन्त्राद्वैत या शाक्ताद्वैत से।

लेकिन ये अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं। मक्खन व घी अव्यक्त रूप में दूध में वर्तमान हैं, लेकिन विशेष स्थितियों में व्यक्त हो जाते हैं। इसी तरह मन में अहंकार व बुद्धि अव्यक्त भाव में है। इसे शुद्ध करने की प्रक्रिया में अहंकार व बुद्धि व्यक्त हो जाते हैं।

व्यावहारिक जीवन में चेतना मन, अहंकार और बुद्धि के रूप में व्यक्त होती है। यहां एक शाश्वत प्रश्न खड़ा होता है कि शुद्ध चेतना या आत्मा मन-बुद्धि से स्वतंत्र तत्त्व है? या यह भी मन-बुद्धि का केवल शुद्धतम रूप है? अद्वैत वेदांती ब्रह्म या आत्मा को असंस्कार्य और अविकार्य मानते हैं। साथ ही आत्मा को निर्गुण, निराकार, निरपेक्ष चिद् तत्त्व कहते हैं। अतः आत्मा या ब्रह्म मन का संस्कारित रूप नहीं है। यह इन्द्रिय-गोचर नहीं है और बुद्धि के लिये भी अगम्य है। (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तैत्ति. उप. II-4)। नैषा तर्केण मतिरापनेयां (कठ II-9) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (कठ. II-23)। उसकी अपरोक्षानुभूति होती है। समाधि या तुरीयावस्था में ही आत्मानुभव संभव है। यह एक और अद्वितीय तत्त्व है। जगत् माया या मिथ्या है। इस प्रस्थान से व्यावहारिक जीवन नहीं सध सकता। यह आनुभविक सांसारिक जीवन ही सुख-दुःख के द्वन्द्व और बंधन का कारण है। अद्वैत वेदांत जगत् को मिथ्या या अनिर्वचनीय बताकर जागतिक जीवन का समर्थन नहीं कर सकता। मन, अहंकार व बुद्धि जागतिक जीवन को सुचारू रूप से संपन्न करने के लिये साधन हैं। आत्मानुभूति के लिये अनुभव व तर्क अक्षम हैं। अतः अद्वैत वेदांत की भूमि पर खड़े होकर जागतिक जीवन की सफलता की कामना और उसके लिये प्रयास करना निरर्थक हो जाता है।

लेकिन तन्त्र के अनेक ग्रंथ किसी न किसी रूप में अद्वैत वेदांत के केवल पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ही नहीं करते, वरन् तन्त्र को मोक्षशास्त्र ही बना देते हैं। शिवाद्वैत में शिव चिन्मय हो जाते हैं और शाक्ताद्वैत में शक्ति चिद् रूप होती है; जहां शिव-शक्ति सामरस्य की चर्चा होती है वहां चिन्मय या चिद्रूप शिव ही मुख्य तत्त्व है और शक्ति शिव की कर्तृत्व शक्ति। शिव व शक्ति में शक्तिमान और शक्ति

सूर्य और ज्ञानियों का संबंध बताया जाता है। मूल उद्देश्य होता है चिद् तत्त्व को परम सत्ता मानकर अपने सिद्धान्तों का मंडन करना। आधुनिक युग के तन्त्र के विद्वानों में बुडरफ, शिवचन्द्र विद्यार्णव, पंचानन तर्करत्न, गोपीनाथ कविराज आदि तन्त्र को वेदों का सार मानकर किसी भी तान्त्रिक विषय की व्याख्या अद्वैत वेदांत के आधार पर करते हैं। डॉ. एन.एन. भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ दी तान्त्रिक रिलिजियन', मनोहर, दिल्ली, 1982, भूमिका, पृ. 10 में इसी बात को निम्नलिखित तरीके से स्पष्ट किया है : 'बाद की तान्त्रिक सृष्टि-मीमांसाओं के वेदान्तीकरण ने अनेक विरोधाभासों तथा आत्मविरोधों को उत्पन्न किया है। यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन तान्त्रिक ग्रंथों में स्पष्ट रूप से उभर कर आती है। अद्वैत-वेदांत के जगत् के मित्थात्व ने तान्त्रिकों में खूब भ्रम फैलाया है। वेदांत के अनुसार केवल ब्रह्म (जो कि जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है) ही सत्य है और जगत् माया या मिथ्या है।'

तान्त्रिक दृष्टि में जगत् सत्य है और उसमें जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। जीवन के सुख-दुःखों की निवृत्ति; यथा रुचि और अवसर अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये साधन; शारीरिक स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन के लिये औषधिशास्त्र, पारदविद्या, हठयोग व अन्य क्रियाएं, रसायन विद्या (मूल्यहीन धातुओं को स्वर्ण में परिवर्तित करना) आदि तन्त्र के व्यावहारिक पक्ष के उदाहरण हैं। कोई भी ऐसा धर्म या दर्शन नहीं है जिसने तान्त्रिक दृष्टि को नहीं अपनाया है। आधुनिक हिन्दू धर्म का नब्बे प्रतिशत कर्मकाण्ड तान्त्रिकों की देन है।

तन्त्र की इस जागतिक दृष्टि और मानवोपयोगी साधना-पद्धति को आधार बनाकर श्रीचक्र के बिन्दु, प्रथम चक्र तथा अष्टार के आठ तत्त्वों की व्याख्या की गई है। महाबिन्दु या शिव-शक्ति के सामरस्य के ये तीन सोपान समष्टि या शिव के व्यष्टिकरण की सीढ़ियां हैं। ये तत्त्वरूप व्यष्टियां हैं न कि वस्तु रूप। जल, पृथ्वी, मन, अहंकार आदि व्यष्टि होते हुए भी सामान्य तत्त्व हैं। जल के विभिन्न व्यष्टि-रूप हो सकते हैं जैसे बर्फ, वाष्प, तालाब, नदी व समुद्र का जल, मानव शरीर में जलीय तत्त्व,

वस्तुओं में शीत तत्त्व आदि। ये भी अपने आप में सामान्य हैं, क्योंकि इनका आगे भी व्यष्टिकरण हो सकता है।

अन्तर्दशार और बहिर्दशार

अष्टार चक्रों के शीर्ष बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए अन्तर्दशार हैं और इसी तरह अन्तर्दशार के शीर्ष बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए बहिर्दशार के चक्र हैं। नामों से जैसा प्रकट होता है कि दोनों में 10-10 चक्र हैं। अन्तर यह है कि अन्तर्दशार के चक्र सूक्ष्म रूप हैं जबकि बहिर्दशार के स्थूल रूप, जैसे कि विचार और उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द।

एक बात अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है जिसे ध्यान में रखना अनिवार्य है। स्थूल और सूक्ष्म शब्द सापेक्ष हैं। सूक्ष्म से भी पर सूक्ष्म हो सकता है, जैसे कि शक्कर के एक स्थूल कण का सूक्ष्म रूप है रस के कण जो कि होते जलीय हैं लेकिन उनमें मिठास रहती है। और स्थूल में भी कम या अधिक स्थूल तत्त्व हो सकते हैं। लड्डू स्थूल है, लेकिन उसमें मिली हुई शक्कर भी स्थूल है। इसी तरह अधः और ऊर्ध्व शब्द भी हैं। ये भी सापेक्ष हैं और वस्तुओं के अस्तित्व से ही इनका अर्थ ज्ञात होता है।

श्रीचक्र में सूक्ष्म से स्थूल तक का विकास, जिसे विसर्ग या तिरोधान कहते हैं, होता है यह विसर्ग भूपुर या चतुरस्र तक जाता है। चतुरस्र सृष्टि की बाहरी दीवार है। भूपुर से महाबिन्दु तक का विकास अनुग्रह या ऊर्ध्व गमन है। तिरोधान (महाबिन्दु से चतुरस्र तक) और अनुग्रह (चतुरस्र से महाबिन्दु तक) प्रति क्षण चलता रहता है। महाबिन्दु जो कि शिव-शक्ति के सामरस्य का प्रतीक है, वह देश-कालातीत तत्त्व है। लेकिन जैसे ही स्वेच्छा से बहु स्याम् की स्थिति आती है या सत्, रज, तम का चक्र (त्रिकोण) अस्तित्व में आता है, काल-राज्य प्रारंभ हो जाता है। अर्थात् पूर्ण अहम् और पूर्ण इदम् का अस्तित्व प्रकट होता है, जैसे कि पूरे दर्पण में पूर्ण प्रतिबिंब। न तो दर्पण का, न ही वस्तु का कोई अंश रिक्त नहीं है। महाकाल अनुभवातीत है, अतः काल-चेतना के लिये पर बिन्दु से व्यक्ति-चेतना तक तिरोधान होगा। इसका अर्थ यह है कि जब ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न स्थिति में हों, तब ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। वस्तु-चेतना ही ज्ञान है। इस दृष्टि से पूर्ण अहम् और पूर्ण इदम् (विश्व) में ज्ञान

असंभव है। शैव मतानुसार (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) इस स्थिति को सदाशिव का सोपान कहते हैं जिसमें अहमिदम् या विश्व का अस्पष्ट भान होता है। जिस तरह पूर्ण अहम् (ब्रह्म या चिद् रूप) का ज्ञान नहीं होता, उसी तरह पूर्ण विश्व का भी ज्ञान नहीं हो सकता। वाक् की दृष्टि से यह स्थिति पश्यन्ती की है जिसमें वैखरी की विशेषताएं नाना रूप रंग विलीन होकर मध्यमा में रूप-मात्र रह जाता है और पश्यन्ति में केवल शक्ति। मन्त्र-सिद्धि में यहां तक पहुंचने पर साधक को सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उसकी इच्छा या भावना मात्र से वस्तु उपस्थित हो जाती है। यह साधक की सृष्टि है।

हमारा तात्पर्य न शैव दर्शन में उलझना है न ही मन्त्र की व्याख्या करना है। केवल यह दर्शाना था कि किस प्रकार महाबिन्दु से त्रिकोण, अष्टकोण और अन्तर्दशार तक पहुंचने तक महाकाल का ही क्षेत्र है न कि काल का।

अन्तर्दशार में 5 त्रिकोण शिव के स्वरूप और 5 त्रिकोण शक्ति के रूप हैं; यथा शिव के चिति, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया व शक्ति के अनुग्रह, तिरोधान, सृष्टि, स्थिति एवं संहार। शिव-शक्ति में सामरस्य का अर्थ अभेद की स्थिति होना। इसका अर्थ यह है कि दोनों तत्त्वों में पूर्ण सामरस्य है, दोनों के रूप वैभिन्य में भी सामरस्य है, जैसे चित्ति-अनुग्रह, आनन्द-तिरोधान, इच्छा-सृष्टि, ज्ञान-स्थिति और क्रिया-संहार में सामरस्य का होना। इस सामरस्य का अर्थ यही है कि ये अभेद के द्योतक हैं, जैसे इच्छा-सृष्टि के सामरस्य में केवल सुविधा के लिये कहते हैं कि शिव की इच्छा से शक्ति सृष्टि करती है। शिव को सांख्य के पुरुषानुरूप कर्तृत्व-शक्ति से हीन मानना तथा शक्ति में प्रकृति के अनुरूप कर्तृत्व मानकर दृष्टिहीन कहना यह सादृश्य उपयुक्त नहीं है। क्योंकि जो शिव है वही शक्ति है और जो शक्ति है वह शिव से अभिन्न है। अर्थात् परम तत्त्व की ही सृष्टि है। सृष्टि शक्ति का अभिव्यक्त स्वरूप है और शक्ति सृष्टि का अव्यक्त रूप।

सामरस्य के संबंध में यह भी ध्यान रखना होगा कि वैकासिक क्रम में प्रत्येक सोपान सामरस्य का द्योतक है, जैसे कि महाबिन्दु में शिव-शक्ति का सामरस्य है, लेकिन जब शिव-शक्ति के रूपों का

उद्घाटन हुआ, तब इच्छा (शिव) व सृष्टि (शक्ति) का सामरस्य उपस्थित था। इसे हम अधिक व्यापक करके कह सकते हैं कि विश्व स्वतः सामरस्य का प्रथम ज्ञेय तत्त्व है। विश्व का ज्ञाता शिव या सदाशिव होता है। व्यक्ति को विश्व के अंशमात्र का ज्ञान होगा। सम्पूर्ण की अनुभूति व्यक्ति के लिये केवल साधना से संभव है, ज्ञानेन्द्रियां इस पूर्ण का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। लेकिन थोड़ा विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक ज्ञेय वस्तु में सामरस्य होना अनिवार्य है। जैसे पृथ्वी ज्ञेय है, लेकिन पृथ्वी में आकाश, वायु, अग्नि व जल तत्त्वों का किसी अनुपात में समन्वय है और गंध उसका अवच्छेदक (विशेष) गुण है जो उसे अन्य तत्त्वों से अलग करता है। एक छोटे से कीड़े में भी देह+प्राण का सामरस्य है। पृथ्वी के परमाणु ज्ञेय नहीं हैं, लेकिन जब वे संघटित होकर रूप ग्रहण करते हैं तब ज्ञेय होते हैं। बल्ब के माध्यम से होने वाला विद्युत-प्रकाश पॉजिटिव व नगेटिव तार के सामरस्य की बात उठने का मूल कारण ही यह है कि श्रीचक्र समष्टि और व्यष्टि दोनों का प्रतीक है, अतः इस यन्त्र का उद्देश्य ही यह है कि समष्टि से व्यष्टि तक (तिरोधान) तथा व्यष्टि से समष्टि तक अनुग्रह किस प्रकार कार्य करते हैं।

बहिर्दशार

बहिर्दशार में भी 10 चक्र हैं, जो कि 5 ज्ञानेन्द्रियों और 5 कर्मेन्द्रियों के प्रतीक हैं। बहिर्दशार तक सूक्ष्म का ही प्रसार था। अष्टार और अन्तर्दशार में महाबिन्दु और महायोनि के त्रिकोण के अति-सूक्ष्म से सूक्ष्म होते हुए भी स्थूलता का अंश बढ़ता गया है। इसे विमर्श का बढ़ता हुआ अंश भी कह सकते हैं। बहिर्दशार में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ और 5 कर्मेन्द्रियाँ विकसित होती हैं। इन्द्रियों की प्रवृत्ति बाह्यमुखी है, अर्थात् वे जगत् के संपर्क में आकर अपने लिये विषय सामग्री एकत्रित करती हैं। आँखों का लक्ष्य रूप है जिसमें अग्नि तत्व निहित है, कानों का शब्द है जिसमें आकाश तत्व है; त्वक् का स्पर्श है जिसमें वायु तत्त्व है और नासिका की गंध है जिसका तत्त्व पृथ्वी है। कठोपनिषद में (II-I) में इन्द्रियों की बाह्य

प्रवृत्ति के संबंध में कथन है :

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः
तस्मात् पराङ् पश्यति

इन्द्रियों के सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों की रचना हुई है। अतः इनका बहिर्मुखी होनां स्वाभाविक है। चक्षु रूप के लालची हैं। अतः अग्नि (प्रकाश) से आलौकित वस्तु की ओर जाते हैं।

चतुर्दशार

चतुर्दशार 14 लोकों के प्रतीक हैं, जिसमें 7 स्वर्ग के यथा भू. भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् और सात पाताल लोक यथा अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातत्त्व, रसातल, पाताल। ये 14 चक्र श्रीचक्र के 14 लोक हैं।

महाबिन्दु से चतुर्दशार तक सूक्ष्म तक की सृष्टि का दिग्दर्शन है। यह प्रारंभ में ही उल्लेख हो चुका है कि सभी चक्रों की कुल संख्या 43 है। इसकी एक व्याख्या यह है कि इस संख्या में 36 चक्र शैव व शाक्त धर्मों के अनुसार स्वीकृत सृष्टि के 36 तत्त्वों के हैं, यथा - शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या, माया, काल, कला, विद्या, नियति, राग, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, मन, 5 ज्ञानेन्द्रियां और 5 कर्मेन्द्रियां, 5 तन्मात्रा और 5 महाभूत और सात धातुएं : रक्त, मांस, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र (सौन्दर्य लहरी, विष्णुतीर्थ जी (1977), योगश्री पीठ, टिहरी गढ़वाल, पृ. 104)।

अष्टदल और षोडशदल कमल

सृष्टि नाम-रूपात्मक है। जागतिक व्यवहार नाम-रूप के आधार पर चलते हैं। प्रत्येक व्यष्टि या सापेक्ष समष्टि का नाम होता है। जैसे पर्वत एक विशेष प्रकार के भूमि-अस्तित्व का सामान्य नाम है। कई पर्वत हिमालय, विन्ध्याचल मलयगिरी, सतपुड़ा, आदि; और हिमालय में अनेक चोटियां हो सकती हैं, सभी अलग-अलग नाम से प्रसिद्ध हैं। यह संभव है कि कई पर्वत शृंखलाओं पर अभी मनुष्य के पैर न पड़े

हों और वह कोई नाम न रख पाया हो। बेनाम की वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर मनुष्य कोई न कोई नाम रख देता है। बालक किसी नाम के साथ जन्म नहीं लेता; माता-पिता व्यावहारिक संबंधों का निर्वाह करने के लिये कोई न कोई नाम रख देते हैं। नाम होगा तो रूप या अस्तित्व होगा ही, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि अस्तित्व होगा तो नाम होगा ही।

श्रीचक्र को समष्टि और व्यष्टि का यन्त्रात्मक प्रतीक मानते हैं, अर्थात् सृष्टि में व्यष्टि तक आने में जितने भी अनिवार्य सोपान हैं, सभी का परिचय श्रीचक्र से मिल जाता है। इसी कारण ललिता सहस्रनाम (68 व 996) इसे चक्रराज कहकर कामेश्वरी या भगवती का रथ मानती है। लेकिन इस रथ के पहियों का उल्लेख अभी शेष है। अभी तक 14 लोकों की सृष्टि हो चुकी है। इसमें जागतिक दृष्टि से जड़-चेतन के भेद भी हैं। जब मनुष्य को इनका ज्ञान होता है तब इनके नामकरण भी हो जाते हैं। सांस्कृतिक व्यवहार व व्यापार नाम के आसपास ही केन्द्रित रहता है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला का भावना-प्रधान चरित्र-चित्रण नाम के आस पास ही केन्द्रित है। रंगमंच पर ऐसे ही पात्रों के मिथक जीवित हो जाते हैं, क्योंकि यथार्थ में ऐसी निसर्ग कन्या का साक्षात्कार होना असंभव है।

विश्व की अनेक आयामों में रचना होने के पश्चात् नाम की आवश्यकता होती है। रूप-भेद के यथार्थ का शाब्दिक प्रतिनिधित्व करते हैं नाम-भेद। वस्तु की अनुपस्थिति में ज्ञात-वस्तु का नाम लेने मात्र से स्मृति के संस्कार जाग जाते हैं। ईश्वर का नाम पतंजलि के अनुसार 'ओम्' है-(तस्य वाचकः प्रणवः 1-27)। मानव-संस्कृति और सभ्यता के दीर्घकालीन इतिहास में एक ओर यथार्थ जगत् है तो दूसरी ओर शब्द-ब्रह्म या नाम। श्रीतन्त्र इसकी व्याख्या करते हुए विभिन्न आयामों वाली सृष्टि को एक वृत्त के भीतर रखकर उसके बाहर थोड़े-थोड़े अंतर से दो अष्टदल कमल व षोडशदल कमल के वृत्तों की कल्पना प्रस्तुत करता है। प्रथम (अष्टदल कमल) में नागरी लिपि के सभी व्यंजन हैं

और उसके बाहर के वृत्त में षोडश दल क़मल में 16 स्वर हैं। इनका क्रम इस प्रकार है–

अष्टदल कमल

पूर्व से दक्षिण, दक्षिण से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर एवं उत्तर से पूर्व

		देवी
पूर्व	1. क ख ग घ ङ	अनंग कुसुमा
	5. प फ ब भ म	अनंग रेखा
दक्षिण	2. च छ ज झ ञ	अनंग मेखला
	6. य र ल व	अनंग वेगिनी
पश्चिम	3. ट ठ ड ढ ण	अनंग मदना
	7. श ष स ह	अनंग कुशा,
उत्तर	4. त थ द ध न	अनंग मदनातुरा
	8. लं क्ष	अनंग मालिनी

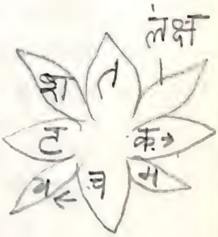

षोडशदल कमल-देवियों के नाम

	अक्षर	देवियों के नाम
पूर्व	अ	कामाकर्षिणी कामेश्वरी
	आ	बुद्ध्याकर्षिणी
	इ	अहंकाराकर्षिणी
	ई	शब्दाकर्षिणी
उत्तर	उ	स्पर्शाकर्षिणी
	ऊ	रूपाकर्षिणी
	ऋ	रसाकर्षिणी
	ऋ	गंधाकर्षिणी
पश्चिम	लृ	चित्ताकर्षिणी
	लृ	धैर्याकर्षिणी
	ए	स्मृत्याकर्षिणी
	ऐ	नामाकर्षिणी विजया नित्या

ओ	बीजाकर्षिणी
औ	आत्माकर्षिणी
अं	अमृताकर्षिणी
अः	शरीराकर्षिणी महानित्या

उपर्युक्त तालिका देखने से ज्ञात होता है कि—

(अ) अष्टदल के व्यंजन और षोडश दल के स्वर मिलकर भाषा का स्वरूप प्रकट करते हैं। आनुभविक सृष्टि की सभी वस्तुएं व व्यवहार के लिये नाम या शब्द भाषा से ही चुने जाते हैं। शब्द-ब्रह्म का साकार रूप नाम है, और नाम नामी के वाचक हैं। अष्टदल के व्यंजन हलन्त हैं अर्थात् अधूरे हैं, जब उनका संयोग स्वरों से होता है तब वे पूर्ण वर्ण हो जाते हैं जैसे क् + अ = क।

(ब) अष्टदल कमल के अधिष्ठाता अनंग या काम हैं जो रति या कामेश्वरी के साथ सामरस्य में रहते हैं। षोडशदल की अधिष्ठात्री देवियों के नाम शक्ति के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं यथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, बुद्धि, अहंकार, स्मृति आदि।

(स) इस तरह अष्टदल के व्यंजन और षोडश दल के स्वरों के सामरस्य से शब्द-ब्रह्म की भाषा के रूप में साकार सृष्टि का सृजन होता है।

तात्पर्य यह है कि जितना भी सृजन, स्थिति और संहार इस सृष्टि में होता है सभी के नाम भाषा से ही उद्भूत होते हैं। अतः अष्टदल और षोडशदल के बाद नाम-रूप वाले विश्व की व्याख्या हो जाती है। लेकिन श्रीचक्र की सीमा समाप्त होती है भूग्रह या भूपुर से जोकि आकार में चतुरस्र है जिसकी चारों दिशाओं में 4 द्वार हैं। प्रत्येक द्वार की अधिष्ठात्री देवी अपनी शक्ति के साथ विशेष सिद्धिदायक है; जैसे कि पूर्व द्वार की देवी सर्व संक्षोभणी, ब्राह्मी शक्ति और अणिमा सिद्धिदायक। भूग्रह या भूपुर और महायोनि चक्र (प्रथम त्रिकोण) के बीच 19 चतुरस्र, कई रिक्त स्थान और षोडशदल व भूग्रह के बीच रिक्त स्थान असंख्य अज्ञात अस्तित्वों के प्रतीक हैं जो अभी ज्ञेय नहीं है, इसी कारण उनके नाम भी नहीं दिये हैं।

साधना की प्रक्रिया

जब साधक साधना प्रारंभ करता है तब उसके सम्मुख साकार इष्टदेवी, श्रीचक्र और षोडश मंत्र होता है। प्रत्येक तत्त्व प्रत्यक्ष है (अर्थात् स्थूल है)। प्रारंभिक पूजा-अर्चन के पश्चात् न्यास धारण करके श्रीचक्र में देवी का आह्वान करना पड़ता है। इसके बाद मन्त्र-जाप प्रारम्भ होता है। मन्त्र में बीजाक्षर होते हैं। ध्यान की स्थिति में मन्त्र, इष्टदेवी व श्रीचक्र अपने सूक्ष्म रूप में परिवर्तित होते चलते हैं। ध्यान केन्द्रित होने की स्थिति में चेतना बैखरी (बीजाक्षरों) से मध्यमा में प्रवेश करती है। उस काल में बैखरी के बीजाक्षर स्वर (नाद) में बदलने लगते हैं। इष्टदेवी का स्थूल रूप भी आकार मात्र रह जाता है। जब ध्यान मध्यमा की स्थिति से पश्यन्ती का स्पर्श करने लगता है तब सिद्धि प्राप्त होती है। पूर्ण सिद्धि का लाभ केवल परावाक् या पराशक्ति तक पहुंचने के बाद ही संभव है।

साधना का प्रारंभ शक्ति (गुरु के रूप में) के अनुग्रह का फल है। इसमें साधक के चित्त का संसार द्वन्द्वों से प्रत्यावर्तन है। तिरोधान में विश्व का आवर्तन है, एक से अनेक की ओर गति हो रही है। प्रत्यावर्तन में अनेक से एक की ओर लौटना है। श्रीचक्र में भूपुर से विभिन्न चक्रों को पार करते हुए महाबिन्दु तक पहुंचना है।

'एक से अनेक' और 'अनेक से एक' आध्यात्मिक तत्त्व की सरलतम शाब्दिक अभिव्यक्तियां हैं। लेकिन 'अनेक' व 'एक' भी रूढ़ शब्द नहीं हैं, क्योंकि विश्व की प्रक्रिया 'एक-अनेक-अनेक से एक-अनेक' इस तरह अनेकता को व्यष्टि रूप से प्रकट करना है। मिट्टी+जल+धूप+निर्माता की कला+रंग+रूप आदि की अनेकता में खिलौना एक व्यष्टि है। खिलौना टूटकर पुनः अनेक तत्त्वों में प्रत्यावर्तित हो जाता है। वास्तव में जगत की कोई भी ज्ञेय-वस्तु अपने मूल तात्विक स्वरूप में नहीं होती। गंध और रस का आस्वादन उत्पन्न करने वाले पृथ्वी और जल तत्त्व भी मिश्रित तत्त्व हैं। तात्पर्य यह है कि आनुभविक जगत् में केवल मिश्रित तत्त्वों का अस्तित्व है।

श्रीचक्र में साधक अनेकता के जगत् से एक तत्त्व जिसमें शिव-शक्ति का सामरस्य है, की ओर बढ़ता है। वही ऐसा स्थल है जहां पहुंचकर

साधक को पूर्ण शांति मिलती है। इस स्थिति को वेदांत में ब्रह्मानुभूति कहते हैं।

निष्कर्ष

श्रीचक्र (श्रीयन्त्र) संबंधी उपर्युक्त लंबे विवरण में प्रमुख उद्देश्य ज्ञानात्मक पक्ष की व्याख्या करना था। तन्त्र की मूल दृष्टि ज्ञानात्मक न होकर क्रियात्मक (साधनाशास्त्र) है। उनका उद्देश्य मुख्य रूप से व्यावहारिक या जागतिक समस्याओं को सुलझाना होता है। ज्ञानात्मक पक्ष के लिये वे बहुधा अद्वैत-वेदांत की दृष्टि स्वीकार करते हैं।[1] हम अपने आलेख में यथावसर यह बता चुके हैं कि तन्त्र की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि है जोकि कई रूपों में अद्वैत-वेदांत से मेल नहीं खाती। ललिता सहस्रनाम स्वतः ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश है जिस तरह कि दुर्गासप्तशती मार्कण्डेय पुराण का। तन्त्र दृष्टि का विकास 7वीं सदी से माना जाता है। शंकर ने अपनी तान्त्रिक दृष्टि के मंडन के लिये ललिता सहस्रनाम को स्वीकार किया है, न कि दुर्गासप्तशती को। मार्कण्डेय पुराण हो या ब्रह्माण्ड पुराण, दोनों में समन्वयवादी दृष्टि का ही मंडन है, अर्थात् वे शैव, शाक्त, वैष्णव और तन्त्र में भेद नहीं करते और उसी दृष्टि से दुर्गासप्तशती और ललिता सहस्रनाम ओतप्रोत हैं। शैव, शाक्त और तन्त्र तो इतने घुले मिले हैं कि कई बार यह विदित ही नहीं होता कि इनमें भिन्नता के बिन्दु क्या हैं? जहां तक वैष्णव मत का प्रश्न है, दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में विष्णु ही अपनी माया-शक्ति से मधु-कैटभ का नाश करते हैं; और अध्याय 8 में वैष्णवी सप्तमात्रकाओं के एक रूप में खड्ग हाथ में लेकर रक्तबीज से युद्ध करती है। वराह और नृसिंह रूपी विष्णु के अवतारों की पत्नियां वाराही और नारसिंही भी राक्षसों से युद्ध करती हैं। लेकिन दुर्गा सप्तशती में कहीं भी श्रीविद्या, श्रीचक्र, कुण्डलिनी, बिन्दुरूपिणी नाद, चक्र, यन्त्र आदि तान्त्रिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं है, जबकि ललिता सहस्रनाम में प्रमुख रूप से इनका उल्लेख मिलता है। शंकर ललिता सहस्रनाम को अपनी तान्त्रिक दृष्टि का आधार बनाते हैं। उनके नाम से प्रचलित जो

---

1. 'दी तन्त्राज आर एशेन्शयली साधन शास्त्र। देअर एम इज सीवीयरली प्रेक्टीकल'-श्री ललिता सहस्रनाम, भूमिका, पृ. 21, प्रो. डी.एस. शर्मा, श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास।

शक्ति स्तोत हैं उनमें ललिता पंचरत्न, मीनाक्षी स्तोत, मीनाक्षी पंच रत्न, त्रिपुरसुन्दी अष्टक आदि प्रमुख हैं। शृंगेरी मठ की अधिष्ठात्री देवी कामाक्षी है। ललिता सहस्रनाम में कामाक्षी (नामावली 62), त्रिपुरसुन्दरी (नामावली 234) आदि नाम आए हैं। शंकर द्वारा स्थापित श्रीचक्र आज भी शृंगेरी मठ में उपासना का केन्द्र है। शंकर के गुरु गौड़पादाचार्य ने भी श्रीविद्या का प्रतिपादन किया था जिसका प्राण उनके 'सुभगोदय' नामक ग्रंथ में मिलता है।[1] शंकर ने भी इन्हीं तान्त्रिक देवियों जैसे राकिनी (नामावली 494), डामारी (498), लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी, याकिनी को नमस्कार निवेदन किया है। वह ललिता या अम्बिका को यज्ञप्रिया (नामावली 881) कहकर वैदिक यज्ञ-परंपरा को भी स्वीकार कर लेता है।

2. समन्वय की इस प्रवृत्ति से ऐसा विदित होता है कि शंकराचार्य ने 8-9वीं सदी के सभी प्रचलित विचार और साधनाओं की अपनी वेदान्त-दृष्टि में समन्वित कर लिया है। वे सम्प्रदायों से सीमित नहीं होते, और वेदांत को उदात्त स्वरूप प्रदान कर लेते हैं। ज्ञानात्मक या तात्त्विक दृष्टि से जो शंकर निर्गुण, निराकार, और केवलाद्वैत के मूर्धन्य प्रतिपादक लगते हैं, वे ही साधना के क्षेत्र में तन्त्र की जीवनवादी दृष्टि को अपनाकर महान् समन्वयवादी सिद्ध हो जाते हैं। आज जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, उसके बीज भगवद्गीता के विभूतीपाद तथा विश्वरूपदर्शन (अध्याय 10 एवं 11) में मिल जाते हैं; लेकिन उन बीजों को बोने व पल्लवित करने का श्रेय दुर्गासप्तशती को दिया जाना चाहिये। फिर भी जिस समग्रता के दर्शन ललिता सहस्रनाम के आधार पर शंकर द्वारा प्रतिपादित श्रीविद्या उपासना में मिलते हैं, वह विस्मयकारी हैं। विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि शंकर को कोरे ब्रह्मवाद के प्रतिपादक के रूप में अधिकांश जनता जानती है।

श्रीविद्या के मंडन, रेखांकन, उससे निर्मित त्रिकोणों और चतुष्कोणों की यथार्थमूलक व्याख्या की है, लेकिन फलादेश के संबंध में मौन रहना उचित समझा है। श्रीविद्या संबंधी प्रत्येक ग्रन्थ में इनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। वैसे उचित तो यह है कि जिस गुरु के निर्देशन में यह

1. गोपीनाथ-कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ. 12

साधना की जाये, वही उसका योग्य प्रवक्ता होता है। हमने केवल सैद्धांतिक पक्ष की ओर ध्यान दिया है और यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया है कि सभी तन्त्र, मंत्र और यन्त्र और उनके विशाल साहित्य के मुख्य स्वर जागतिक पीड़ा का हरण और साधक के अभ्युदय की कामना करते हैं। शंकराचार्य द्वारा स्थापित सभी मठों में देवी, आचार्य या महावाक्य भिन्न हो सकते हैं, लेकिन श्रीयंत्र की तान्त्रिक उपासना सभी में स्वीकृत है। श्रीविद्या या श्रीयन्त्र की साधना की विशेषता है कि इसमें किसी प्रकार के अभिचार या कृच्छ्र साधना के लिये स्थान नहीं है। इष्ट देवियां सौम्य हैं, रौद्र नहीं। वामाचार की साधना सर्वथा वर्ज्य है। यह भी एक यथार्थ है कि श्रीविद्या की उपासना उच्च वर्णों में ही लोकप्रिय है। चार मठों की उपास्या देवियों में केवल भद्रकाली ही दुर्गासप्तशती में नामांकित देवियों में से एक है, शेष भिन्न हैं। जैसे विमला, कामाक्षी, एवं पूर्णगिरि।

इससे प्रतीत होता है कि शंकर ने तन्त्र का वेदान्तीकरण करते हुए बहुत बारीकी से अन्य शाक्त एवं तान्त्रिक देवियों को नहीं अपनाया। ठीक भी है, क्योंकि शंकर अद्वैत वेदान्त की व्याख्या करते हुए संन्यास का आचरण ही ब्रह्मानुभूति के लिये आवश्यक मानते हैं। जगत् जब मिथ्या है तब उसमें व्याप्त सुख-दुःख की अनुभूति एवम् अभ्युदय श्रेय नहीं प्रेय है।

तिल-रहस्य एवं हाव-भाव विचार

"तिल विचार और शारीरिक हाव-भाव" ज्योतिष जगत् में अपने ढंग की अभूतपूर्व कृति है। इसमें वर्णित तथ्यों और सिद्धान्तों को आत्मसात करके पाठक ऐसा ज्ञान अर्जित कर सकते हैं जिसके द्वारा वे किसी आगन्तुक व्यक्ति के चेहरे पर एक नजर डालते ही उसकी प्रकृति और भवितव्यता के सम्बन्ध में दृढ निश्चय पूर्वक सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। **न जन्मपत्री की जरूरत, न हाथ देखने का झंझट।** यहाँ तक कि आगन्तुक का नाम जानने की भी आवश्यकता नहीं। केवल तिलावलोकन के अभ्यास की आवश्यकता है। चेहरे के विभिन्न स्थानों पर अंकित तिल के विभिन्न फल होते हैं। इन फलों की पुष्टि करने वाला दूसरा तिल भी शरीर के किसी दूसरे अंग पर होता है।

यदि आपने इस छोटी-सी पुस्तिका का सम्यक् अध्ययन करके इन तथ्यों को जान लिया तो किसी व्यक्ति के दाहिने कान के पास मधुवर्णी तिल देखते ही निःसंकोच भाव से कह सकेंगे-"विवाह के बाद आपका भाग्योदय होगा। अचानक ही अतुल धन-सम्पत्ति भी प्राप्त होगी। प्रमाण चाहें तो देख लीजिए आपकी दाहिनी जंघा पर घुटने से कुछ ऊपर तिल का निशान है।" आगन्तुक सोचेगा कि इस व्यक्ति ने मेरी जंघा देखे बिना ही तिल सम्बन्धी तथ्य बता दिया तो इसकी भविष्यवाणी निश्चय ही सत्य सिद्ध होगी।

पुस्तक के दूसरे भाग में शारीरिक गतिविधियों और भंगिमाओं के आधार पर व्यक्ति के चरित्र की विशेषताओं तथा मूड-मिजाज को पहचाने की जानकारी दी गई है। जो व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करने में अत्यन्त सहायक है।

हमें पूरी आशा है कि हमारे विज्ञ पाठक इस पुस्तक से प्राप्त ज्ञान के द्वारा सटीक और सप्रमाण भविष्यवाणियां करके दूसरों को चकित-विस्मित करते हुए स्वयं भी भरपूर मनोरंजन प्राप्त करेंगे।

मानव शरीर के हाव-भाव व तिलों का मनो वैज्ञानिक अध्ययन

Eng - 52
Math - 42
Phys - 23/70 — 17/30
Chem - 26/70 — 23/30
Bio - 49/70. — 24/30.

मंत्र शक्ति

—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

मन्त्रों की अद्‌भुत शक्ति का रहस्य एवं मानव जीवन में उनकी उपयोगिता निर्विवाद है। प्रस्तुत रचना में दैनिक उपयोग में आने वाले विभिन्न मन्त्र एवं उनकी साधना विधि सरल एवं व्यावहारिक रूप में दी गई है।

विद्वान लेखक की अनूठी रचना

नवीन संशोधित संस्करण। *मूल्य 40 रुपये*

महायोगी भगवान दत्तात्रेय विरचित

दत्तात्रेय तन्त्र

व्याख्याकार : डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी एम.ए.पीएच.डी.

यह ग्रन्थ परिचय विभाग और प्रयोग विभाग दो खण्डों में तन्त्रशास्त्र की शास्त्रीय साधना विधि के समग्र परिचय के साथ अलंकृत है। 28 पटलों में निर्मित यह तन्त्रग्रन्थ सर्वदोषों से रहित शीघ्र सिद्धि देने वाला बतलाया गया है जिसमें परम गोपनीय विषय भी संकलित हैं। लेखक ने अपने दीर्घकालीन अनुभव और शास्त्रीय ज्ञान को सरलता के साथ ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

मूल्य 80 रुपये

लाल किताब

मूल सिद्धान्त और टोटके

अनिष्ट-निवारण के उपायों और टोटकों की प्रसिद्ध पुस्तक लाल किताब के लिए औपचारिक परिचय की आवश्यकता नहीं है। जो इसे जानते हैं उनका इसके प्रति अटूट विश्वास है। संकट के समय इसके आलोचक भी टोटकों का प्रयोग करके लाभ प्राप्त करते हैं और चमत्कार देखते हैं; किन्तु लाल किताब के उपायों और टोटकों की सटीकता तथा प्रभाव क्षमता का रहस्य बहुत कम लोग जानते हैं। प्रस्तुत रचना में विद्वान् लेखक ने लाल किताब की मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए इसके उपायों और टोटकों की उपयोगिता सिद्ध की है। इसके अध्ययन द्वारा टोटकों के प्रयोग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके पाठक अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

सरल हिन्दी भाषा, व्यावहारिक उपाय अचूक परन्तु सस्ते टोटकों का अपूर्व संग्रह

मूल्य : 80 रुपये

तिल-रहस्य एवं हाव-भाव विचार

"तिल विचार और शारीरिक हाव-भाव" ज्योतिष जगत् में अपने ढंग की अभूतपूर्व कृति है। इसमें वर्णित तथ्यों और सिद्धान्तों को आत्मसात करके पाठक ऐसा ज्ञान अर्जित कर सकते हैं जिसके द्वारा वे किसी आगन्तुक व्यक्ति के चेहरे पर एक नजर डालते ही उसकी प्रकृति और भवितव्यता के सम्बन्ध में दृढ निश्चय पूर्वक सटीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। **न जन्मपत्री की जरूरत, न हाथ देखने का झंझट।** यहाँ तक कि आगन्तुक का नाम जानने की भी आवश्यकता नहीं। केवल तिलावलोकन के अभ्यास की आवश्यकता है। चेहरे के विभिन्न स्थानों पर अंकित तिल के विभिन्न फल होते हैं। इन फलों की पुष्टि करने वाला दूसरा तिल भी शरीर के किसी दूसरे अंग पर होता है।

यदि आपने इस छोटी-सी पुस्तिका का सम्यक् अध्ययन करके इन तथ्यों को जान लिया तो किसी व्यक्ति के दाहिने कान के पास मधुवर्णी तिल देखते ही नि:संकोच भाव से कह सकेंगे-"विवाह के बाद आपका भाग्योदय होगा। अचानक ही अतुल धन-सम्पत्ति भी प्राप्त होगी। प्रमाण चाहें तो देख लीजिए आपकी दाहिनी जंघा पर घुटने से कुछ ऊपर तिल का निशान है।" आगन्तुक सोचेगा कि इस व्यक्ति ने मेरी जंघा देखे बिना ही तिल सम्बन्धी तथ्य बता दिया तो इसकी भविष्यवाणी निश्चय ही सत्य सिद्ध होगी।

पुस्तक के दूसरे भाग में शारीरिक गतिविधियों और भंगिमाओं के आधार पर व्यक्ति के चरित्र की विशेषताओं तथा मूड़-मिजाज को पहचाने की जानकारी दी गई है। जो व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करने में अत्यन्त सहायक है।

हमें पूरी आशा है कि हमारे विज्ञ पाठक इस पुस्तक से प्राप्त ज्ञान के द्वारा सटीक और सप्रमाण भविष्यवाणियां करके दूसरों को चकित-विस्मित करते हुए स्वयं भी भरपूर मनोरंजन प्राप्त करेंगे।

मानव शरीर के हाव-भाव व तिलों का वैज्ञानिक अध्ययन

रंजन पब्लिकेशन्स
16 अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
email:ranjanpublications@rediffmail.com